

लोकमान्य तिलक

एक जीवनी



स्वराज्य के मूलमंत्र-दाता

लोकमान्य तिलक

—स्वराज्य के मल-मंत्रदाता की प्रेरणादायक जीवनी—

लेखक
पांडुरंग गणेश देशपांडे

●

प्रस्तावना

हरिभाऊ उपाध्याय

●

१९५६

सत्साहित्य प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल,
नई दिल्ली

पहली बार : १९५६
मूल्य
अढ़ाई रुपये

मुद्रक
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस,
दिल्ली

प्रकाशकीय

बाळ गंगाधर तिलक की सौवीं वर्षगांठ के पुण्य अवसर पर उनकी जीवनी प्रस्तुत करते हुए हमें बड़ी प्रसन्नता हो रही है। लोकमान्य तिलक का भारत के स्वाधीनता-संग्राम में कितना हाथ रहा है, यह बताने की आवश्यकता नहीं है। निस्सन्देह, वह उन महान् नेताओं में से थे, जिनका सारा जीवन स्वतन्त्रता की वेदी पर निछावर हो गया था' आज से लगभग पचास वर्ष पूर्व उन्होंने कहा था, "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और उसे मैं लेकर रहूंगा।" उनके इन शब्दों ने करोड़ों व्यक्तियों को अनुप्राणित किया था और स्वाधीनता-संग्राम में तन-मन-धन से जूझ पड़ने की प्रेरणा दी थी। उनकी इच्छा जीवन-काल में पूरी न हो सकी, लेकिन उन्होंने जो बीज बोया था, वह निष्फल नहीं जा सकता था।

यह निश्चय ही बड़े हर्ष और गौरव की बात है कि स्वराज्य के इस मूल-मंत्रदाता की १०० वीं जन्मतिथि बड़े उत्साह तथा उमंग के साथ सारे देश में मनाई जा रही है। ऐसे अवसर पर अपनी श्रद्धाञ्जलि के रूप में यह पुस्तक भेंट करते हुए हमें और भी आनन्द का अनुभव हो रहा है।

लोकमान्य की यह सम्भवतः हिन्दी में प्रथम विस्तृत जीवनी है। इसमें लेखक ने बड़े ही परिश्रम से सजीव शैली में उनके जीवन की विशेष घटनाओं का उल्लेख किया है। बताया है कि तिलक ने भारत की स्वतन्त्रता के लिए कितना त्याग और बलिदान किया था। वस्तुतः तिलक का जीवन आज़ादी की लड़ाई के साथ इतना जुड़ा हुआ था कि एक प्रकार से यह जीवनी उस लड़ाई का इतिहास ही बन गई है।

हमें विश्वास है कि पाठक इस उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण प्रकाशन का स्वागत करेंगे।

—**मन्त्री**

प्रस्तावना

आज से सौ वर्ष पहले लोकमान्य तिलक का जन्म कोंकरण प्रान्त के रत्नागिरि जिले में एक साधारण ब्राह्मण-परिवार में हुआ। उनका स्वर्ग-वास हुए आज पैंतीस वर्ष हो गए। कुल पैंसठ साल की आयु उन्होंने प्राप्त की, जिसमें लगभग पच्चीस वर्ष विद्याध्ययन और शिक्षा-सम्बन्धी कार्यों में बीते। सन् १८८१ से उनका राजनैतिक क्षेत्र में पदार्पण हुआ, जबकि उन्होंने 'केसरी' नामक मराठी साप्ताहिक पत्र को जन्म दिया, अर्थात् कुल चालीस साल उनके प्रत्यक्ष रूप से देश को स्वतन्त्र कराने के उद्योग में गए। वैसे तो देश-भक्ति की प्रेरणा उन्हें विद्यार्थी-जीवन से ही प्राप्त हुई और इसी के प्रभाव से उन्होंने शिक्षा-संस्थाएं खोलीं, किन्तु उसको प्रकृत रूप १८८१ के बाद मिला। अंग्रेजी-राज के प्रति विद्रोह उनकी रग-रग में इतना भरा हुआ था कि एक बार उनके किसी मित्र ने विनोद में कहा था कि मालूम होता है कि जिस दिन तिलक माता के गर्भ में आये, उनके पिता किसी अंग्रेज से लड़-झगड़ कर आये थे, अर्थात् गर्भ-दिवस से ही मानो उन्हें अंग्रेजी राज्य के प्रति विद्रोह की भावना पूर्व-संस्कार से मिली। १८८० और १९२० के बीच के ४० साल भारत के इतिहास में बड़े महत्त्वपूर्ण हैं—खासकर राजनैतिक जागृति और स्वतन्त्रता-आन्दो-की दृष्टि से। विभिन्न प्रान्तों में इन दिनों भिन्न-भिन्न छोटे-बड़े राजनैतिक नेता हुए, लेकिन लोकमान्य तिलक की बराबरी शायद ही कोई कर सका हो। उनकी मृत्यु के बाद जब उनकी विरासत गांधीजी को मिली या उनका तेज गांधीजी में समा गया, तबतक उनका अखंड-राज्य भारतवर्ष के आबालवृद्ध सबके हृदय पर रहा और मृत्यु के समय जो गौरव और सम्मान उन्हें बम्बई की जनता से और देश के कोने-कोने से मिला, वह उसके पहले किसी राजनैतिक नेता को नहीं मिला था। इसका कारण

केवल उनके व्यक्तिगत गुण, शक्ति, योग्यता या विद्वता ही नहीं थे। महज इन शक्तियों या योग्यताओं का होना ही किसीकी महानता का सूचक नहीं है—बल्कि इनका उपयोग मनुष्य किस प्रकार करता है इससे उसकी महानता और लघुता सूचित होती है।

कहा है :

विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतत्, ज्ञानाय,दानाय च रक्षणाय ।।

अर्थात्—विद्या, धन और शक्ति अच्छे और बुरे दोनों आदमियों के पास होती हैं, परन्तु एक व्यक्ति विद्या का उपयोग ज्ञान-प्रचार में, धन का उपयोग दीन-दुखियों की सहायता में और शक्ति का उपयोग दूसरों की रक्षा में करता है। वह भला या महान् व्यक्ति कहलाता है। दूसरा आदमी विद्या का उपयोग विवाद करने में, उलझनें बढ़ाने में, धन का उपयोग ऐश-आराम में, शक्ति का उपयोग दूसरों को सताने में करता है, वह बुरा और अधम कहलाता है। लोकमान्य तिलक की महानता इन शक्तियों के धनी होने में नहीं, बल्कि इस बात में है कि उन्होंने इनका उपयोग एक-निष्ठा, सतत जागरूकता, अटल धुन के साथ अपने देश को स्वतन्त्र कराने के महान् उद्योग में किया—अपनी महान् विद्वत्ता, बुद्धि-बल, तेजस्विता, निर्भीकता, आत्म-शक्ति का उपयोग भारत माता की बेड़ी काटने में अहर्निश जूझते हुए किया। यद्यपि स्वराज की मांग की शुरुआत कांग्रेस के मंच से स्व० दादाभाई नौरोजी ने की,तथापि 'स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्धि अधिकार है और हम उसे लेकर रहेंगे' यह नारा लोकमान्य तिलक ने ही बुलन्द किया और मरते दम तक उन्होंने इसके लिए भगीरथ प्रयत्न किया।

आज की तरह, तिलक महाराज के जमाने में खुलमखुल्ला बोलने, लिखने और आन्दोलन करने की स्वतन्त्रता नहीं थी। उसपर बहुत प्रति-बन्ध लगे हुए थे। कोई आपस में भी बात करते तो चारों तरफ देख लेते कि कोई सी० आई० डी० तो नहीं खड़ा है। लोग इतने भयभीत थे

कि जब लोकमान्य तिलक होशंगाबाद गए, तो उस क़सबे में उन्हें किसीने अपने यहां सोने को स्थान नहीं दिया। किसी नागरिक की यह हिम्मत नहीं हुई कि उन्हें अपने यहां ठहराये। चुनाचे उन्हें नर्मदा के घाट पर बिस्तर लगाकर रात भर सोना पड़ा। इससे आप सोच सकते हैं कि भारतवर्ष को १९२० तक लाने में, अर्थात् भारत में गांधीजी का आविर्भाव होने तक की भूमिका तैयार करने में, लोकमान्य और उनके साथियों का पुरुषार्थ कितना कारणीभूत है और यह काम कितना विकट था। विनोबाजी ठीक कहा करते हैं कि हम जो आज हैं और बढ़े हुए दीखते हैं सो हम अपने बुजर्गों के कंधे पर बैठे हुए हैं। निश्चय ही जो भूमिका स्वतन्त्रता-आन्दोलन के भिन्न-भिन्न कार्यों, उत्सवों और आन्दोलनों के द्वारा लोकमान्य तिलक आदि ने तैयार की, उसका लाभ गांधीजी को मिला और फिर खुद उनके पुण्य-प्रभाव की जोड़ मिल जाने से उन्होंने अपने जीवितकाल में देश को आजाद देख लिया। लोकमान्य तिलक ने यदि देश में स्वतन्त्रता की हवा फैलाई, लोगों में एक नई जान फूंकी, तो गांधीजी ने देश को स्वतन्त्रता का सच्चा मार्ग दिखाया और उसपर चलाकर आजादी दिलाई। तिलक यदि स्वतन्त्रता के मशालची थे, तो गांधीजी उसके प्रकाश में चलकर विजेता हुए। यह सही है कि गांधीजी का मार्ग तिलक से भिन्न था, पर यदि तिलक अपने ढंग से स्वतन्त्रता की जमीन तैयार न करते, तो गांधी को अपने ढंग से स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ने में मुश्किल होती। तिलक यदि भारत को जगानेवाले थे, तो गांधी उसे अंग्रेजों से लड़ानेवाले और जितानेवाले हुए, और जवाहर और विनोबा उस आजादी को पचाकर शांति, समता और एकता के आधार पर एक नई क्रांति का सन्देश भारत द्वारा संसार को दे रहे हैं। यह सब एक महान् प्रगतिशील परम्परा है, जिसकी बुनियाद में तिलक महाराज बड़ी उज्ज्वलता से प्रकाशित हो रहे हैं।

लोगों को निर्भीक, तेजस्वी और दबंग बनाने के लिए लोकमान्य ने अपने अखबार का नाम 'केसरी' रखा। उसके ध्येयमंत्र के तौर पर उन्होंने

संस्कृत का एक श्लोक चुना था, जिसका हिन्दी अनुवाद 'हिन्दी केसरी' में इस प्रकार छपता था :

"स्वामी कुंजर-वृन्द के इस घने कान्तार के भीतर,
रे, एक क्षण भी न तू ठहरना उन्माद में आकर।
हाथी जान शिला विदीर्ण करके पैने नखों से निरी,
सोता है गिरि-गर्भ में यह यहीं भीमाकृती केसरी।"

इसमें अंगरेजी सत्ता को गजराज की जगह बताकर भारत की जनता को सिंह का स्थान दिया गया है और संकेत किया गया है कि यह महान् पराक्रमी सिंह अभी सोया हुआ है, हे मदोन्मत्त गजराज, तुम भूल से भी उस रास्ते न गुजरना। इस श्लोक का चुनाव ही लोकमान्य के दुर्दमनीय व्यक्तित्व और उनके तेजस्वी ध्येय का भलीभांति परिचय दे देता है।

इसी तरह जब उन्हें राज-द्रोह के मुकदमे में छह वर्ष कालेपानी की सजा मिली—जूरी के बहुमत ने उन्हें अपराधी करार दिया, तो एक ईश्वर-प्रेरित व्यक्ति की तरह उन्होंने उसपर भविष्य के लिए निश्चयात्मिक आशापूर्ण उद्गार प्रकट किये थे। एक हिन्दी-कवि ने उन्हें इस प्रकार छन्द में उतारा था :

"यद्यपि इस जूरी ने मुझको अपराधी ठहराया है,
तो भी मेरे मन ने मुझको निर्दोषी बतलाया है।
ईश्वर का संकेत मनोगत दिखलाई यह मुझे पड़े,
मेरे संकट सहने से ही इस हलचल का तेज बढ़े।"

तिलक महाराज के इस आत्म-विश्वास, भविष्य-दर्शन ने, और अन्त में माण्डले के जेल-जीवन ने, उन्हें लोगों की दृष्टि में इतना ऊंचा उठा दिया था कि लोग उन्हें लोकमान्य ही नहीं 'भगवान् तिलक' कहने लग गए थे।

तिलक महाराज के समय में सामाजिक आदर्श और विचार का इतना प्रभाव नहीं था, न जोर था, क्योंकि गुलामी की जंजीरों को तोड़कर देश को आजाद कराने की धुन सबको थी। अतः तिलक महाराज के द्वारा शिक्षा, साहित्य, ज्ञान सभी क्षेत्रों में जो कुछ हुआ, वह सब राजनैतिक-

जागृति के लिए ही हुआ। उनके बाद आनेवाले गांधी ने राजनैतिक सत्ता के साथ-साथ समाजिक आदर्शों की भी स्थिर बुनियाद डाली और अब जवाहर और विनोबा के सामने मुख्यरूप से इस सामजिक आदर्श को चरितार्थ करने का ही काम बाकी रह गया है। इस तरह १८८० से लेकर १९२० तक राजनैतिक युग को 'तिलक-युग' और १९२१ से १९४७ तक के युग को 'गांधी-युग' और १९४७ से आजतक के युग को 'जवाहर-विनोबा-युग' कह सकते हैं। १९२१ से लेकर १९४८ तक गांधीजी को एकछत्र काम करने का अवसर मिला।

लोकमान्य तिलक ने स्वराज्य प्राप्त्यर्थ अंग्रेजों से लड़ने के लिए अन्त में प्रतिसहयोग (रिस्पोन्सिव को-ऑपरेशन) का सिद्धान्त निकाला था, जबकि गांधीजी ने निष्क्रय प्रतिरोध या सत्याग्रह (पैसिव-रेजिस्टेंस) का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। प्रतिसहयोग का अर्थ था कि सरकार जितना हमारे साथ सहयोग करे उतना ही हम उसके साथ सहयोग या असहयोग करें। इसका फलितार्थ यह था कि जितना वह हमारे रास्ते में कठिनाई पैदा करे, उतनी ही उसके रास्ते में हम कठिनाई पैदा करें। अर्थात् 'जैसे को तैसा' या 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' की नीति का अवलम्बन उसमें था और इसीको लेकर तिलक और गांधी में मौलिक मतभेद प्रारम्भ हुआ। 'गीता-रहस्य' में तिलक महाराज ने 'सिद्धावस्था और व्यवहार' नामक प्रकरण में इसी नीति का प्रतिपादन किया है और इसके लिए उन्होंने गीता का 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहं' का आधार लिया है। इसके विपरीन, गांधीजी ने 'शठं प्रत्यति सत्यं' का सूत्र पेश करके सत्याग्रह का नियम दुनिया को दिया।

आज यद्यपि हम 'तिलक-संवत्सरी' मनाकर तिलक महाराज के व्यक्तिगत गुणों और उनके महान् कार्यों का स्मरण करेंगे, तथापि हम निश्चत रूप से गांधी-प्रभावित जवाहर और विनोबा-युग में रह रहे हैं। व्यक्ति महान् बनता है अपने आदर्श, व्यक्तिगत गुण, कार्यक्रम और इन सबको कार्यान्वित करने की क्षमता और योग्यता से। आज तिलक

महाराज के महान् गुण हमारे लिए सर्वथा अनुकरणीय हैं। उनके 'प्रति-सहयोग' के सिद्धान्त का स्थान अब गांधीजी के 'सत्याग्रह' ने और आगे चलकर जवाहरलाल के 'पंचशील' ने ले लिया है। इसके आगे का नारा 'सर्वोदय' है। अतः महापुरुषों के जीवन से और जीवन-कार्यों से हम प्रेरणा ले सकते हैं, शिक्षा ले सकते हैं, परन्तु उनका तद्वत् अनुकरण नहीं कर सकते। लोकमान्य तो ठीक, गांधीजी को तो गए अभी ८ साल ही हुए हैं, परन्तु उनके कार्यक्रम को उनके दोनों शिष्य—जवाहर और विनोबा—अपने-अपने ढंग से घटा-बढ़ाकर कार्य कर रहे हैं। उनकी सत्य और अहिंसा की नीति को दोनों मानते हैं, तो भी उसको गांधीजी के माने में सर्वांश में नहीं लेते हैं। अपने ढंग से उसका अर्थ लगाकर उसका प्रयोग कर रहे हैं और आगे बढ़ रहे हैं और देश को तथा विश्व को शांति, समता और एकता की दिशा में आगे बढ़ा रहे हैं, अर्थात् जहां तक कार्यक्रम और नीति का सवाल है, हमें युग-नेता से मार्गदर्शन लेना चाहिए। जहांतक आदर्श, सद्गुण, सदाचार का सम्बन्ध है, हमको सब देश, सब जाति और सब धर्म के लोगों से प्रेरणा मिलती है और वह लेते रहना चाहिए। इस दृष्टि से लोकमान्य तिलक से हमें अदम्य-उत्साह, महान् साहस, अपूर्व त्याग, मौन कष्टसहन की अमिट प्रेरणा मिलती है और 'यावच्चन्द्र-दिवाकरौ', मिलती रहेगी। आज उनके जन्म का १००वां वर्ष पूरा हो रहा है। मुझे प्रसन्नता है कि इस पुण्य संवत्सरी पर यह पुस्तक 'सस्ता साहित्य मंडल' से प्रकाशित हो रही है। इसमें तिलक महाराज के महान् व्यक्तित्व, उन के असामान्य गुणों पर प्रकाश डाला गया है और उन कार्यों का उल्लेख किया गया है, जो उन्होंने देश के अभ्युदय तथा देश की स्वतंत्रता के लिए किये थे। कुल मिलाकर यह उनकी एक अच्छी और उपयोगी जीवनी बन पड़ी है।

इस पुनीत अवसर पर हम सब भारतवासी श्रद्धा-भक्ति से स्वराज्य के इस जन्मदाता और पराधीन भारत के राष्ट्रपिता, स्वतंत्रता के महान् योद्धा, लोकमान्य के चरणों में नतमस्तक होकर प्रणाम करें।

ओ, स्वराज्य के सिद्ध, प्रजा-सत्ता के भर्ता,
कौशल कोविद राज, दिव्य ग्रन्थों के कर्ता ।
देश-भक्ति के गीत, राजनीति के माली,
सद्‌गुण शील प्रभात स्वत्व के मरीचि माली,
बुद्धि के ओ सुरतरु ! धृति कृति के अद्‌भुत बली !
नत मस्तक स्मृति की गुरो ! ग्रहण करो श्रद्धांजलि ।।

नूतनता के सखा पुरातनता के पूजक,
नव पुराण में पुण्य सनातनता के प्रेरक ।
क्षात्र तेज प्रतिनिधे, परिस्थिति के हे स्वामी,
तप त्याग आचार्य, आर्यता के वर वाग्मी ।
ग्रहण करो हे राष्ट्रपति ! हे उज्ज्वल विरुदावली !
गद्‌गद् व्यथित कृतज्ञता की सादर श्रद्धांजलि ।।

मुख्यमंत्री-निवास,
हटुँडी (अजमेर)
१७ जुलाई १९५६

हरिभाऊ उपाध्याय

विषय-सूची

लोकमान्य तिलक

: १ :

देश-काल-परिवार

परशुराम-क्षेत्र कोंकरण—भौगोलिक दृष्टि से महाराष्ट्र दो भागों में बांटा जाता है—'देश' और 'कोंकरण'। सह्याद्रि पर्वत के पश्चिम में समुद्र तटवर्ती संकीर्ण पट्टी 'कोंकरण' ('कंकरण' से) कहलाती है और सह्याद्रि की पर्वतमाला को पार करने के बाद जो पठार या ऊंचा प्रदेश आता है, वह 'देश' कहलाता है।

किसी जमाने में कोंकरण की यह संकीर्ण पट्टी सह्याद्रि की तरह ही घने जंगलों से ढंकी हुई थी। पश्चिम की तरफ समुद्र था। अतः वनों से आच्छादित इस संकीर्ण पट्टी में बहुत लोग नहीं रह सकते थे। कहते हैं कि प्रागैतिहासिक काल में भार्गव परशुराम ने इन जंगलों को साफ करके इस पट्टी को मनुष्य के रहने योग्य बनाया था। इसीलिए कोंकरण को 'परशुराम-क्षेत्र' भी कहते हैं। दशरथ पुत्र राम के जन्म और विजयों के बाद परशुराम का तेज फीका हो गया। संभवतः तभी उन्होंने भारतमाता के कंगन जैसे इस सुन्दर प्रदेश में आकर यहां यह नई बस्ती बस्ती बसाई। आज के कोंकरण-निवासी कोंकरणस्थ ब्राह्मरण—खासकर चित्पावन ब्राह्मरण—परशुराम को अपना पूर्वज या कुल देवता मानते हैं। अरब सागर से उठनेवाली मानसून हवाओं के मार्ग में पड़नेवाले सह्याद्रि के बिल्कुल निकट होने से यहां बरसात भी काफी होती है। ऐसी जलवायु में घने जंगलों का उगना रोकना, और इस प्रकार भूमि को खेती के योग्य रखना यहां रहने के लिए नितान्त आवश्यक था। इसके लिए यहां रहनेवालों को प्रकृति की इन शक्तियों से लगातार जूझना पड़ता था।

ऐसा माना जाता है कि कोंकरण की आखिरी बस्ती (जो मौजूद है) आज के कोंकरणस्थ ब्राह्मरणों के पूर्वजों ने लगभग पांचसौ वर्ष पहले

बसाई थी। ये बस्ती बसानेवाले कुटुंब 'खोत' कहलाते हैं। कालान्तर में ये खोत जमीदारों या रईसों की तरह पूरे गांव के मालिक बन गए। उनके पास अपनी-अपनी खेती की जमीन तो थी ही; साथ ही वे सारे गांव की सरकार द्वारा निश्चित की गई मालगुजारी भी वसूल करके भरते थे।

पर कोंकण की इस संकीर्ण, शस्य-श्यामल और सुन्दर पट्टी में खेती के लायक जमीन बहुत कम थी। जो थी भी वह इन खोतों के पुरुषार्थ और महत्वाकांक्षा के अनुरूप काफी नहीं थी। अतः खोतों के कितने ही वंशज आजीविका और अवसर की खोज में अपना जन्मस्थान छोड़ सह्याद्रि को पारकर देश के पठार, और फिर, बाद में बंबई के बस जाने के बाद, बंबई, अपना भाग्य अजमाने के लिए पहुंच जाते थे।

अठारहवीं शताब्दी में श्रीवर्धन के एक इसी प्रकार के कुटुंब के बालाजी विश्वनाथ छत्रपति शाहू महाराज के पास पहुंचे। अपनी व्यवहार-कुशलता और पराक्रम से उन्होंने शाहूजी पर बड़ा प्रभाव डाला। यही बालाजी विश्वनाथ इतिहास-प्रसिद्ध पेशवा वंश के संस्थापक थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कोंकण का भारतीय इतिहास में खासा ऊंचा स्थान है। पेशवाई के अन्त के बाद भी कोंकण का महत्त्व समाप्त नहीं हो गया। इसीके एक जिले—रत्नागिरी—को गत १००-१५० वर्षों के भारतीय इतिहास में अच्छी ख्याति मिली है। उन्नीसवीं शताब्दी में बंबई के सार्वजनिक जीवन में सरगर्मी से हिस्सा लेनेवाले तथा कानून व प्राच्य विद्या के प्रकांड पंडित रा० सा० विष्णु नारायण मंडलीक, महाराष्ट्र में सार्वजनिक प्रवृत्ति के आद्यप्रणेता तथा कांग्रेस के संस्थापकों में से एक, न्यायमूर्त्ति रानडे, उनके शिष्यवर भारत-सेवक गोखले, महाराष्ट्र के प्रखर समाज सुधारक और स्त्री शिक्षा के लिए आधुनिक भारत की प्रधान एवं स्वतन्त्र विद्यापीठ स्थापित करनेवाले महर्षि कर्वे, आदि जैसे महान् देश-सेवक रत्नागिरि की मिट्टी में ही पैदा हुए, पले और इसी मिट्टी में पोसे गए और बड़े हुए।

लोकमान्य के पूर्वज—हमारे चरित्रनायक का जन्म इसी रत्नागिरि ज़िले के दापोली तहसील के चिखलगांव नामक गांव में हुआ था।

चिखलगांव में तिलक के परदादा श्री केशवराव का जन्म ई० स० १७७८ में हुआ था। उस ज़माने में महाराष्ट्र पर पेशवाओं की सत्ता थी। पेशवा वंश के संस्थापक बालाजी विश्वनाथ की तरह यह भी खोत ही थे, अतः पेशवाशाही में उन्हें अपना भाग्य आजमाने का पूरा अवसर प्राप्त था। ऐसी अनुकूल परिस्थितियों में उनके लिए तहसीलदार बनने की आकांक्षा रखना बिल्कुल स्वाभाविक था। केशवराव ने इस पद के लिए आवश्यक उद्योग किया और वह अंजनबेल के तहसीलदार बन गए। उस समय आज-सी, ठीक कसौटी के समय धोखा देनेवाली केवल 'पुस्तकस्था विद्या' प्राप्त करने से किसी पुरुषार्थी व्यक्ति को संतोष नहीं होता था। मनुष्य के लिए कम-से-कम चार-पांच विद्या प्राप्त करना ज़रूरी माना जाता था। पढ़ना-लिखना, घुड़सवारी, निशाना मारना, तैरना, और रसोई पकाना––ये पांच विद्याएं जाननेवाला आदमी कहीं भी जाय, भूखों नहीं मरेगा, ऐसा अनुभव-सिद्ध होने से हरएक व्यक्ति प्रयत्नपूर्वक इन्हें प्राप्त करता था। केशवराव ने भी पढ़ने-लिखने के साथ-साथ उपरोक्त विद्याएं भी प्राप्त की थीं।

सन १८१७ में पेशवाओं की सत्ता का अन्त हुआ। केशवराव उस समय तहसीलदार के पद पर ही थे। वे कलम चलाने में जितने कुशल थे, उतने ही तलवार चलाने में भी थे; जैसे हाज़िरजवाब थे, वैसे ही चुस्त भी थे। अतः जनता में एवं राज दरबार में उनका एक-सा प्रभाव था। इस वजह से अंग्रेजों के प्रतिनिधि (नौकर) बनकर तहसीलदार के पद पर कायम रहने के लिए कंपनी सरकार की तरफ से उनसे कहा गया। लेकिन "नौकरी करनी होगी तो अपने ही राजा की, विदेशी राजा की नहीं", यह सोचकर उन्होंने तहसीलदार का पद त्याग दिया और घर पहुंचकर सन्ध्या-पूजा में अपना समय बिताने लगे। कुछ समय बाद अपनी आर्थिक स्थिति बिगड़ जाने पर भी उन्होंने फिर नौकरी करने का विचार नहीं किया।

केशवराव की पहली पत्नी रुक्मिणीबाई से दो पुत्र हुए। पहले पुत्र रामचन्द्र का जन्म सन १८०२ में हुआ था। उसके बाद काशीनाथ हुए और उसके थोड़े दिन बाद रुक्मिणीबाई का देहान्त हो गया। केशवराव

ने फिर विवाह किया। दूसरी पत्नी का नाम दुर्गाबाई था। तहसीलदार होने के कारण केशवराव को खूब घूमना पड़ता। उधर दुर्गाबाई का ध्यान अपने बालक महादेव पर केन्द्रित रहता था। इससे रामचन्द्र के विकास की तरफ किसीने खास ध्यान नहीं दिया। अतः रामचन्द्र की पढ़ाई भी बहुत नहीं हुई। इधर उनका विवाह भी किशोरावस्था में ही हो गया और १७ वर्ष के होते-होते तो वह पिता भी बन गए।

रामचन्द्र के प्रथम पुत्र गंगाधर का जन्म सन १८२० में हुआ। यही गंगाधर लोकमान्य तिलक के पिता थे। पेशवाई का सन् १८१७ में अन्त हो चुका था। केशवराव नौकरी छोड़कर अपने जन्मस्थान में वापस आ गए थे। घर की स्थिति अच्छी न होने से सांसारिक जिम्मेदारी पूरी करने के लिए रामचन्द्र को कंपनी-सरकार के पैमाइशखाने में कलम और जरीब लेकर सर्वेयर (नपती करनेवाले) की हैसियत से अंग्रेजों की नौकरी करनी पड़ी। वह यों भी स्वच्छन्दी थे। सर्वेयर की नौकरी में लगातार इधर-उधर घूमना पड़ता था। अतः गंगाधर के पालन-पोषण आदि का सारा काम उनकी पत्नी रमाबाई के ही सिर था।

दादा (केशवराव) का गंगाधर पर विशेष प्रेम था। अतः बालक गंगाधर सारा समय उन्हींके साथ बिताता। दादा के पूजा-पाठ में साथ देते-देते कितने ही स्तोत्र व श्लोक उसे कंठस्थ हो गए। इसके बाद दादा ने घर पर ही लकड़ी की तख्ती पर रेत या धूल डालकर बरू की कलम से उस पर वर्णमाला, बाराक्षरी, पहाड़े व मोडी (मराठी) लिपि आदि लिखना सिखा दिया। साथ ही तिथि, वार, नक्षत्र, महीने आदि का ज्ञान भी करा दिया।

इसी काल में नई सरकार की तरफ से अंग्रेज़ी और देशी भाषाओं की पाठशालाएं स्थापित करके पाश्चात्य शिक्षा-प्रसार का कार्य जोरों से शुरू हुआ। कोंकण से भी कई लड़के उसका फायदा उठाने के लिए बंबई जाने लगे। स्कूल खोलने का यह प्रवाह यद्यपि चिखलगांव जैसे छोटे गांवों तक नहीं पहुंचा था, तथापि दाभोळ जैसे कसबों तक वह ज़रूर पहुंच गया था। अतः गंगाधर को भी आगे की शिक्षा के लिए दाभोळ भेजा गया।

उस समय प्राथमिक शाला के अभ्यास क्रम में गणित, व्याकरण,

ग्रौर मोडी लिपि में सुलेखन—ये मुख्य विषय थे। इन विषयों के लिए उपयुक्त पाठ्य-पुस्तकें ग्रभी तैयार नहीं हुई थीं। तो भी मराठीभाषी प्रदेश में 'वाटसरूंच्या गोष्टी' (मुसाफिरों की बातें), 'मराठी शाळा ग्राणि पंतोजी' (मराठी पाठशाला तथा शिक्षक),'लिपिधारा','शाळापद्धति','उपयोगी ज्ञान', 'मूलांसाठी लहान धडे' (बच्चों के लिए छोटे-छोटे पाठ), ग्रादि पुस्तकें प्रकाशित हुईं, ग्रौर उनकी कुछ प्रतियां इन नई पाठशालाग्रों में भी भेज दी गईं। वाचन-सामग्री बस इतनी ही थी। उस समय की पाठशालाएं कैसी थीं, इसका ग्रन्दाज स्वयं गंगाधरपंत के निम्नलिखित वर्णन से किया जा सकता है :

"'छड़ी बाजे छम्छम्, विद्या ग्रावे धम्धम्' यह कहावत शिक्षकोंकी दृष्टि में ग्रादर्श थी। ग्रतः बिल्कुल छोटी-छोटी बातों में भी वे छड़ी का सहारा लेते। उस ज़माने बैठक लगवाने, ग्रंगूठे पकड़वाने, सुलेखन के समय जरा-सा भी सिर ऊंचा करने पर विद्यार्थी की गरदन पर छोटा-सा कंकर रखकर उससे स्थिर होने को बाध्य करने, दो पैरों के बीच डंडा दबवाने, दीवार के सहारे कुरसी बनवाने, घोड़ी लगवाने, मुर्गा बनाने, रस्सी पर लटकाने जैसी ग्रनेक प्रकारकी सज़ाएं जिसमें न हों,ऐसी शाला शायद ही कोई होगी। मैं कुछ समय 'मालचाट्या' यानी वेतन रहित उपशिक्षक था, लेकिन 'शिष्यापराधे गुरोर्दण्डः' इस न्याय से मुझे भी सहन करना पड़ता। सुबह या दोपहर को पाठशाला खोलकर झाड़ू लगाने का काम पहले नंबर का विद्यार्थी करता था। फिर स्कूल में पहला कौन ग्राया, दूसरा कौन, यह छुट्टी के समय याद रहे, इसलिए विद्यार्थियों की कलाई पर स्याही से एक, दो, तीन ग्रादि ग्रंक लिखना, मुख्य शिक्षक के ग्राने में देर हो तो सुबह प्रभातियां (प्रातः गीत), ग्रौर दोपहर को कोई-न-कोई कविता या श्लोक बुलवाना ग्रौर मुख्य शिक्षक के ग्राने पर वह कहें उतने विद्यार्थियों को पाठ देना, उनसे पहाड़े बुलवाना ग्रथवा मौखिक हिसाब या पहाड़े पूछना ग्रादि काम 'मालचाट्या' को करने पड़ते थे।" गंगाधरपंत ग्रागे कहते हैं, "हाथ पर ग्रंकों जितनी छड़ियों से लेकर पैर के बीच डंडा दबाने तक की सब सज़ाएं उस समय विद्यार्थियों को दी जाती थीं, तब भी गुरु-शिष्य के बीच उन दिनों जो प्रेम-भाव स्पष्ट रूप से नज़र ग्राता था, वैसा प्रेम-भाव ग्राज

वे सारी सजाएं मिट जाने पर भी देखने में नहीं आता। हमारे रामभाऊ की छड़ी और घोड़ी में ही ऐसा कुछ विलक्षण प्रेम था कि वह आज भी (जब गंगाधरपंत रत्नागिरी में शिक्षक थे) कम नहीं होता।"

आज हमारे पास शिक्षा के विपुल साधन हैं और शिक्षण भी पहले की अपेक्षा अधिक छात्रानुकूल है। फिर भी गुरु और शिष्य के बीच उपरोक्त प्रेम-भाव का आज नितान्त अभाव है। यह एक विचारणीय प्रश्न है। इसका मुख्य कारण यही है कि आज का विद्यार्थी परिक्षार्थी मात्र और शिक्षक मात्र वेतनार्थी बन गया है।

दाभोळ के स्कूल में दी जानेवाली शिक्षा पूरी करने के बाद आगे की पढ़ाई के लिए गंगाधरपंत ने पूना जाने का निश्चय किया। उस ज़माने की असुविधापूर्ण यात्रा के कष्ट सहकर वह पूना जा पहुंचे और वहां अंग्रेज़ी का अध्ययन शुरू किया। किन्तु थोड़े-ही समय बाद उनकी माता का काशी यात्रा के लिए जाते हुए रास्ते में हैज़े से देहान्त हो गया। पत्नी के गुजर जाने से पैदा हुई घर की नई परिस्थितियों में रामचन्द्रपंत ने अपनी तीन संतानों की जिम्मेदारी अपने सिर लेने के बजाय उन्हें रामभरोसे छोड़कर चित्रकूट का—जहां पेशवाओं का एक कुटुंब रहता था—रास्ता लिया। अतः छोटी उम्र में ही गंगाधरपंत को कुटुंब की ज़िम्मेदारी अपने सिर पर लेने के लिए अंग्रेज़ी पढ़ाई छोड़कर मालवण की पाठशाला में पांच रुपये मासिक वेतन पर शिक्षक की नौकरी करनी पड़ी। उन्होंने अपनी पढ़ाई को जारी रखने का काम लगन के साथ चालू रखा। संस्कृत, काव्यलेखन, गणित और व्याकरण, इन विषयों में उन्होंने अच्छी प्रगति की और मराठी भाषा का एक छोटा-सा व्याकरण भी तैयार किया जिसे शिक्षा-विभाग के अधिकारी मेजर कैंडी ने सरकारी आश्रय दिया।

मालवण में गंगाधरपंत ने अपना कार्य पांच रुपये मासिक वेतन पर प्रारम्भ किया था। बाद में उनका वेतन दस रुपये हो गया। इतना कम वेतन होते हुए भी वह दो-चार विद्यार्थियों को अपने यहां खाना खिलाते और यदि कभी-कभास एक-दो अतिथि भी आ जाते तो उनका भी सत्कार करते थे। सस्ते का जमाना था, कोंकण में एक रुपये के डेढ़ मन चावल मिलते और आठ आने का नमक सालभर चलता था।

मालवरण से गंगाधरपंत की बदली तहसील के मुख्य कस्बे चिपलूरण हुई। वेतन में भी पांच रुपये बढ़े। साथ-ही उनका शिष्य-परिवार भी बढ़ गया श्रौर कुटुंब की जिम्मेदारी भी। इसी बीच उनका विवाह हुश्रा श्रौर पत्नी पार्वतीबाई ने १८४६ में एक कन्या को जन्म दिया जिसका नाम काशी रखा गया।

चिपलूरण से थोड़े ही समय बाद २५ रु० के मासिक वेतन पर गंगाधरपंत की बदली जिले के मुख्य नगर रत्नागिरी हो गई। श्रच्छे शिक्षक होने के साथ-साथ गंगाधरपंत श्रपना ज्ञान बढ़ानेवाले सच्चे विद्यार्थी भी थे। रत्नागिरी श्राते-श्राते उन्होंने गरिणत में श्रपने ही यत्न से काफ़ी प्रगति कर थी। उनके संस्कृत के ज्ञान के काररण लोग उन्हें गंगाधरपंत की जगह गंगाधर शास्त्री के नाम से पुकारने लगे थे।

: २ :

जन्म श्रौर बाल्यकाल

पहली संतान काशी का जन्म होने के बाद पार्वतीबाई के दो पुत्रियां श्रौर हुईं। एक-के-बाद-एक करके तीन लड़कियों का जन्म होने के काररण पार्वतीबाई को पुत्रवती होने की बड़ी उत्कंठा थी। इसके लिए वह चाहे जैसी कठोर तपस्या करने को भी तैयार थीं। एक परिचित बहन ने उन्हें सूर्य का व्रत, जिसमें 'निश्चक्र' (संपूर्ण) उपवास करने पड़ते हैं, रखने की सलाह दी। पार्वतीबाई ने श्रगले श्राश्विन से व्रत शुरू किया। लगभग एक वर्ष के बाद उनकी इच्छा पूर्ण हुई। उपवास, पूजा-श्रर्चा, श्रौर व्रत-कथा सुनना श्रादि तो यथास्थित चालू ही था। इससे वह बहुत क्षीरण हो गई थीं। इसी श्रवस्था में श्राषाढ़ कृष्ण ६, शालिवाहन शक १७७७, सोमवार, तारीख २३ जुलाई, १८५६ के दिन उन्होंने पुत्र-रत्न को जन्म दिया।

प्रसूति के समय तो वह बिल्कुल बेहोश हो गई थीं। बालक जिन्दा है या मर गया है, इसका भी कुछ भान नहीं था। जन्म के लगभग १९-२० मिनिट बाद बालक रोने लगा श्रौर बच्चे की मां को भी श्रनेक उपचार के बाद होश श्राया। दोनों में से कौन बचेगा, यह

कहना कठिन था। इसलिए यह तय किया गया कि पुत्र होने का समाचार किसी से भी न कहा जाय। गंगाधरपंत से भी यही कहा गया कि कन्या हुई है। सुनते ही उन्होंने तुरन्त कह दिया, "लड़की हुई है तो फेंक दो घूरे पर!" जब काशी ने धीरे से नाना (गंगाधरपंत) के कान में सही बात बताई तो नाना हंस पड़े और शान्त हुए। " 'पु' नामक नरक से बचानेवाले 'पुत्र" ' की उत्कंठा अकेली पार्वतीबाई को ही नहीं, वरन् गंगाधरपंत को भी, और कितनी तीव्र थी, यह इससे प्रकट हो जाता है। उस समय सारे हिन्दू समाज में कन्या के लिए कितनी घृणा थी—जो आज भी कितने-ही पढ़े-लिखे लोगों तक में दीखती है—उसका भी इससे पता चलता है।

जन्म के समय बालक की दशा बड़ी चिन्ताजनक थी। उसके हाथ-पैरों में जरा भी जान न थी, सिर बिल्कुल पिलपिला और कमजोर था, आंखें बंद थीं। महीनों तक सिर पर घी मला गया, तब जाकर वह सख्त होने लगा। छठे दिन छठी की पूजा होने के बाद पुत्र-जन्म की बात प्रकट की गई। पेड़े बांटे गए और परदादा के तथा अपने कुल देवता के नाम पर उसका नाम केशव रखा गया। किन्तु पहले पुत्र को नाम से न बुलाने की रूढ़ि के कारण उसे सब 'बाळ' कहकर ही पुकारने लगे। माता के दिये इस वात्सल्यपूर्ण नाम को हमारे चरितनायक ने हमेशा के लिए अपना लिया।

इन कठिन व्रत-उपवासों तथा प्रसूति के कारण पार्वतीबाई का शरीर बड़ा क्षीण हो गया था। बाळ को स्तनपान कराने की भी उनमें शक्ति नहीं थी। अतः रुक्मिणी नामक एक धाय को बाळ की देखभाल व सेवा के लिए रखा गया।

बाळ के जन्म के समय भारत एक ऐतिहासिक दौर से गुजरनेवाला था। बालक साल भर का भी न हो पाया था कि मई १८५७ में भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम छिड़ गया। अंग्रेज शासकों ने इसे 'गदर' अथवा 'सिपाही-विद्रोह' का नाम दिया है। किन्हीं लोगों को तिलक के जन्म और भारत में क्रांति, दोनों का यह अद्भुत संयोग असाधारण भी लग सकता है।

हम बता चुके हैं कि बाळ के दादा रामचन्द्र पंत अपनी पत्नी की मृत्यु

के बाद पेशवा के पास चित्रकूट चले गए थे। स्वातन्त्र्य संग्राम की विफलता के बाद और पेशवा का प्राश्रय समाप्त होने के कारण उन्होंने संन्यास लेने की सोची, और उसके लिए वह काशी गए। पर उन दिनों विद्रोह में भाग लेनेवाले कई लोग अंग्रेजों के 'इन्साफ' के शिकञ्जे से बचने के लिए संन्यासी के गेरुए बाने के पीछे छिपने लगे थे, इसलिए काशी के संन्यासियों ने गांव के चौधरी, पटवारी आदि जैसे किसी सरकारी अधिकारी का प्रमाण-पत्र लेकर ही संन्यास देने का नियम बना लिया था। ऐसा प्रमाण-पत्र लेने के लिए रामचन्द्रपंत को रत्नागिरी वापस आना पड़ा। बाळ उस समय मुश्किल से दो वर्ष का था। उसकी बाल लीलाएं तेजी से चल रही थीं। उसकी मुखमुद्रा बावली-सी किन्तु तेजस्वी, बोलना तुतलाता हुआ किन्तु मधुर, स्वभाव उदार किन्तु थोड़ा चिड़चिड़ा और हठीला था। मां-बाप का लाड़ला घर में पढ़नेवाले लड़कों की पुस्तकें खींचने, कागज फाड़ने, स्लेट पर पेशाब करने, और किसीसे भी अपने को बाहर ले जाने के लिए हठ करने जैसे सभी बाल-सुलभ तमाशे किया करता था।

पौत्र की ये लीलाएं देखकर दादा रामचन्द्रपंत का संन्यास लेने के लिए काशी जाने का संकल्प कुछ समय के लिए ढीला पड़ गया। बाळ ने अपनी धाय रुक्मिणीबाई को छोड़कर दादा को अपने मोहपाश में फांस लिया और उनके साथ रहकर वह उनके स्नान-ध्यान, संध्या-पूजा, स्तोत्र-पठन आदि का अनुकरण करके उनमें साथ भी देने लगा। दादा के संग से बाळ के मन में परम्परागत ब्राह्मण संस्कार उगने लगे। साथ-ही उसे कुछ धार्मिक (संस्कृत) साहित्य भी कंठस्थ हो गया। बाळ की इस घरेलू शिक्षा का क्रम इसी प्रकार चलता रहा; पर रामचन्द्रपंत कुछ समय और घर रहकर, गंगाधरपंत के पूना जाने के बाद, काशी वापस चले गए। वहां उन्होंने संन्यास ले लिया और सन् १८७२ में वहीं समाधिस्थ हो गए।

बाळ के आठ वर्ष का होते-होते उसके यज्ञोपवीत संस्कार का वक्त आ गया, तबतक वह अपूर्णांक तक गणित, रूपावलि, समासचक्र और आधा अमरकोश ज़बानी याद कर चुका था और गायत्री मन्त्र (जो जनेऊ धारण किये हुए द्विज को ही सिखाया जाता था) के सिवाय रोज किया जानेवाला सारा ब्रह्म-कर्म पूरा कर चुका था। अपने पिता के

साथ हुए 'एक श्लोक याद करने की एक पाई' के करार के मुताबिक बाळ ने कितनी ही पाइयां प्राप्त की थीं।

गंगाधरपंत अत्यन्त नियमित जीवन बितानेवाले और शांति से रहनेवाले थे। संध्या व देवपूजा किये बिना मुंह में एक कौर भी नहीं डालते थे। अगर देवपूजा चूक भी जाती, तो भी शय्यागत अवस्था को छोड़कर सूर्य नमस्कार करना तो वह कभी नहीं छोड़ते थे। ऐसे आग्रह और लगन का आस-पास के लोगों पर, और खासकर कोमल उम्र के बालक पर असर हुए बिना कैसे रह सकता था ? वह बड़े स्वाभिमानी भी थे। एक घटना उनके स्वाभिमान पर खासा प्रकाश डालती है। जिस समय गंगाधरपंत रत्नागिरी में अध्यापक थे, उस समय माधवराव बर्वे वहां के उप-शिक्षा-निरीक्षक (डिप्टी एजुकेशनल इन्सपैक्टर) थे। इन सज्जन को बाद में तिलक तथा आगरकर पर मुकदमा चलाने के कारण बड़ी प्रसिद्धी (?) मिली थी। बर्वे एक बड़े घमंडी और सख्त अफसर थे। लेकिन गंगाधरपंत उनसे बिल्कुल नहीं दबते थे। दोनों में बार-बार झगड़ा होता था। कहा जाता है कि इन झगड़ों का गंगाधरपंत की तरक्की पर बुरा प्रभाव पड़ा——उनके नीचे काम करनेवाले शिक्षकों को जल्दी-जल्दी तरक्की मिल जाती थी, पर गंगाधरपंत रत्नागिरी में ही शिक्षक के पद पर पड़े रहे। लेकिन इस पर भी वह बर्वे के आगे नहीं झुके।

लगभग सत्रह वर्ष रत्नागिरी में बिताने के बाद, सन १८६६ में गंगाधरपंत की बदली सहायक-शिक्षा-निरीक्षक (असिस्टेन्ट एजुकेशनल इन्स्पैक्टर) के पद पर पूना हो गई। इतने लंबे समय तक रत्नागिरी में रहने के कारण वह वहां बहुत लोकप्रिय हो गए थे। अतः अनेक जगह उनकी विदाई पर सभाएं की गई। इन उत्सवों में रत्नागिरी के समस्त निवासियों की तरफ से संयोजित विदाई का सार्वजनिक समारोह विशेष रूप से उल्लेखनीय है। समारोह के सभापति संस्कृत के प्रकांड पंडित और भारतीय पुरातत्व तथा संस्कृति के विद्वान डा० रामकृष्ण गोपाल भांडारकर थे। भांडारकर उस समय रत्नागिरी के अंग्रेजी हाई स्कूल में शिक्षक थे। गंगाधरपंत के बारे में उन्होंने कहा, "गंगाधरपंत ने अपने चरित्र से सिद्ध कर दिया है कि पुराने शिक्षक-वर्ग के बारे में मेरे तथा मेरे मित्रों

में से बहुतों के मन में जो खयाल थे, वे सब गलत थे। वह पुरानी पद्धति के एक शिक्षक हैं, तब भी कोई यह न मानले कि वह नई पद्धति के शिक्षकों से हार जायंगे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनकी विद्वत्ता, सूझबूझ, बुद्धिमानी, दयालुता, निस्पृहता, परोपकारवृत्ति, और उद्यमशीलता, ये सब गुण नये लोगों के लिए अनुकरणीय हैं। यदि कोई मुझसे पूछे कि हमारे प्राचीन गुरू कैसे होते थे, तो मैं गंगाधरपंत की तरफ अंगुली उठाकर कहूंगा कि वे इनकी तरह ही सादा जीवन और उच्च विचार के तथा सिद्धान्तों का पालन करनेवाले होते थे। मुझे लगता है कि इनके यहां से जाने से हम गणित की अमानत, व्याकरण का संग्रह, मराठी भाषा का समुच्चय, गुरु-शिष्य-प्रेम का दिन-पर-दिन दुर्लभ होनेवाला भंडार, सभीकुछ खो रहे हैं। मुझे विश्वास है कि आप सबको भी ऐसा ही लगता होगा।"

डॉ० भांडारकर जैसे आलोचक पर ऐसी गहरी छाप डालनेवाले गंगाधरपंत का व्यक्तित्व कैसा होगा, यह उपरोक्त अवतरण से स्पष्ट हो जाता है। अगर गंगाधरपंत को और अध्ययन करने का अवसर मिला होता, तो संभवतः वह भी कृष्णशास्त्री चिपळूणकर जैसे महाराष्ट्र में प्रतिष्ठा व ख्यातिप्राप्त की लोगों की पंक्ति में होते।

: ३ :

विद्यारंभ

गंगाधरपंत के पूना आ जाने के बाद, जैसाकि हम पहले बता चुके हैं, रामचन्द्रपंत अपना संन्यास का संकल्प पूरा करने के लिए काशी चले गए। उनके जाने के बाद गंगाधरपंत स्वयं बाळ की ओर ध्यान देने लगे। यों तो पूना में अंग्रेजी शिक्षा का बड़ा अच्छा प्रबन्ध था, पर गंगाधरपंत ने बाळ को पहले मराठी स्कूल में ही भरती कराया, क्योंकि उनका मत था कि अंग्रेजी के अध्ययन के पहले अपनी मातृभाषा का समुचित ज्ञान होना चाहिए। साथ-ही उनका यह भी विश्वास था कि किसी भी विषय का अध्ययन न तो केवल उसकी परीक्षा पास करने के लिए ही किया जाता है और न उसमें अधिक अंक पाने के लिए ही। अध्ययन

के लिए उसकी नींव पक्की होनी चाहिए, और उसके पढ़ाने की एक विशेष पद्धति भी होनी चाहिए। इसलिए उन्होंने बाळ की शिक्षा की बुनियाद शुरू से ही मजबूत डाली। मराठी स्कूल में दाखिल कराने का एक कारण यह भी था। अंग्रेजी स्कूल में भरती होने तक उसने लगभग पूरा अंकगणित, समीकरण (इक्वेशन) तक बीजगणित और यूक्लिड (रेखागणित) के दो भाग पूरे कर लिये थे।

लगभग इसी समय बाळ की माता पार्वतीबाई का देहान्त हुआ। अतः उसकी देखभाल करने का काम उसकी चाची करने लगीं। बाळ का स्वभाव बचपन में हठीला था और उसमें दूसरों से अलग होकर कुछ विशेष कर दिखाने की प्रवृत्ति थी। यह बात उनके स्कूल-जीवन के कुछ प्रसंगों से और स्पष्ट होती है।

मराठी स्कूल में कुछ सहपाठियों ने दोपहर की छुट्टी के समय कक्षा में मूंगफली खाई और उसके छिलके वहीं इधर-उधर बखेर दिये। छुट्टी के बाद शिक्षक ने कक्षा में आने पर बाळ को भी छिलके साफ करने की आज्ञा दी। बाळ ने तुरन्त सीधा जबाब दिया, "मैंने मूंगफली नहीं खाई है, इसलिए मैं छिलके नहीं उठाऊंगा।" उस जवाब पर गुस्सा होकर उसे सज़ा देने के लिए शिक्षक ने ज्यों ही हाथ में बेंत उठाई, त्यों ही बाळ ने अपनी पुस्तकें और बस्ता उठाया और अपने घर का रास्ता लिया। शिक्षक ने घर पर पत्र लिखकर जांच की। जवाब यह आया, "बाज़ार से कोई चीज़ मोल लेकर या घर की चीज़ बाहर ले जाकर खाने की आदत हमारे लड़के को नहीं है; और वह स्कूल में, रास्ते में या हौज़ पर बैठकर कुछ नहीं खाता है। हमें जो चीज़ ठीक लगती है, हम वह घर बनाकर अथवा बाज़ार से लाकर घर पर ही उसे खाने को देते हैं। दूसरे, उसे ऐसी फुटकर खाने की चीज़ों का कोई खास शौक भी नहीं है।"

आज से लगभग पचास बरस पहले तक सभी कुलीन परिवारों में ऐसा ही रिवाज था। इसका एक कारण छुआ-छूत भी था। परन्तु इसमें जो शुद्धता और संयम की भावना थी, वह निश्चय ही इष्ट तथा अनुकरणीय है।

अंग्रेज़ी शिक्षा के लिए पूना सिटी स्कूल में दाखिल होने के बाद बाळ

ने दो बरस में तीन दर्जों की पढ़ाई पूरी की। वहां भी शिक्षकों के साथ उसके झगड़े चला करते थे। इस बारे में श्री गुरुजी लिखते हैं, "शिक्षक गणित का कोई सवाल पूछता तो वह (बाळ) उसे ज़बानी ही कर डालता। वह स्लेट पर करने को कहता, तो इसका हमेशा प्रश्न होता, 'स्लेट की जरूरत क्या है ?' वह यदि नोटबुक लाने को कहता, तो वह पूछता, 'किसलिए ?' वह काले तख्ते पर हिसाब करने के लिए कहता तो 'चाक से हाथ कौन बिगाड़े ?' ऐसा कहकर वह ज़बानी ही कर डालता। इस प्रकार हर समय शिक्षक के साथ उसका कुछ-न-कुछ विरोध चला करता। श्रुत-लेखन में एक बार 'संत' शब्द तीन-चार बार आया। उसे सभी जगह एक-सा न लिखकर एक बार 'संत', दूसरी बार 'सन्त' और तीसरी बार 'सन्‌त', इस तरह तीन प्रकार से लिखा। शिक्षक ने पहले को सही माना और दूसरे दोनों को गलत बताया। इस पर दोनों के बीच झगड़ा होगया और मामला हेडमास्टर तक पहुंचा। आखिर जब फैसला अपने पक्ष में हुआ तब जाकर भाई को शांति हुई।"

बाळ के इस हठीले स्वभाव का घर पर भी सबको काफी परिचय मिलता था। गंगाधरपंत बाणभट्टकृत संस्कृत 'कादम्बरी' बहुत दिलचस्पी से पढ़ते थे। एक बार बाळ ने कादम्बरी लेने की ज़िद पकड़ी। उस समय वह केवल बारह बरस का रहा होगा। पुस्तक के लिए उसकी ज़िद को देखकर पिता ने उसे दुतकारा तो नहीं, लेकिन एक कठिन सवाल करने के लिए दे दिया और कहा कि पुस्तक इस सवाल को हल करने पर मिलेगी। बाळ ने डेढ़ घंटे तक उसके पीछे पड़कर उसे हल कर दिया। इस पर पिता ने तुरन्त ही पुस्तक मंगाकर उसे दे दी।

सन् १८६९ की दीवाली के बाद बाळ पूना हाई स्कूल के पांचवें[1] दर्जे में भरती हुआ। अभीतक जो विषय उसने पहले ही मराठी में कर लिये थे, अब ज्यादातर वही अंग्रेजी में करने थे। इसलिए उसे चौथी के बजाय पांचवीं कक्षा में दाखिल करवाया गया।

---

[1]गुजरात तथा महाराष्ट्र के अंग्रेजी स्कूलों के वर्गों की गणना चार वर्गों के बाद फिर एक से होती थी।

लगभग इसी समय अपने से ऊपर के अधिकारी के साथ न बनने के कारण गंगाधरपंत ने अपनी बदली की मांग की। उनकी बदली करदी गई और उन्हें पूना से ठाणा (थाना) भेज दिया गया। पूना हाई स्कूल के हेडमास्टर जेकब नाम के एक ईसाई थे। यों भी पूना हाई स्कूल अनुशासन के लिए प्रसिद्ध था और जेकब साहब इस बारे में कुछ विशेष आग्रही थे। एक बार संस्कृत के अध्यापक ने विद्यार्थियों को 'नैषध काव्य' का भाषांतर (कुंजी) खरीदने के लिए कहा। बाळ ने भाषांतर खरीदने से इन्कार कर दिया। अध्यापक महाशय ने बाळ की दलील तो मान ली, पर अनुशासन का सवाल उठाया; विद्यार्थी आज्ञा भंग करे—यह कैसे चल सकता था? अतः उसको सज़ा देने की बात उठाई। पर बाळ सजा क्यों भुगते? मामला जेकब साहब के सामने पेश हुआ। जेकब साहब ने बाळ के सामने यह विकल्प रखा कि या तो छड़ी खाने के लिए हाथ आगे करो या घर चले जाओ। बाळ ने अपना बस्ता उठाया और सीधा घर चला आया। दूसरे दिन से वह बाबा गोखले के स्कूल में जाने लगा।

बाबा गोखले के स्कूल में फीस कुछ कम थी, इससे वहां विद्यार्थियों की संख्या काफी रहती थी। पर अनुशासन का अभाव होने से पढ़ाई में बिल्कुल दम न था। अतः जेकब साहब की जगह पर कुंटे के आने पर बाळ पुनः उसी स्कूल में चला गया। अन्याय का सामना करने की वृत्ति और उसके लिए कष्ट सहन करने की शक्ति बाळ में इस तरह पैदा होती गई। आगे जाकर यह उसके लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुई।

गंगाधरपंत अब थाना में थे, अतः बाळ की रोजाना की पढ़ाई-लिखाई पर उनकी नज़र नहीं रह सकती थी। कार्यवशात् जब कभी वह पूना आते, तब इसके बारे में जानने का कौतूहल उन्हें जरूर रहता। अतः वह बाळ की नोटबुकों पर निगाह अवश्य डालते थे। उन्हें बाळ की अंग्रेजी व संस्कृत की प्रगति से सन्तोष था। उसमें उन्होंने बाळ के स्वरचित संस्कृत श्लोक भी देखे। उसका एक नमूना यह है—

'सदा गुणज्ञं सुपरीक्षणाय यम् कवीन्द्रकाव्यामृत काञ्चनस्यवै।
करोति लोके निकषं न दुर्जनम् खलाय तस्मायहिताय मे नमः॥'

सन् १८७१ में, जब वह अंग्रेज़ी स्कूल में ही पढ़ रहा था, बाक का

विवाह होगया। पत्नी तापीबाई कोंकरण के लाडधर गांव के बाळ नामक कुटुंब की कन्या थी। यह कुटुंब धार्मिक वृत्ति, उदारता और कुलीनता के लिए मशहूर था। विवाह के समय कन्या और वर दोनों मातृविहीन थे। उस समय लड़की की उम्र केवल नौ वर्ष की थी। विवाह कोंकरण में में चिखलगांव में हुआ था। तापीबाई सत्यभामा के नये नाम से तिलक-परिवार की सदस्या बनीं। बाळ का नाम भी विवाह के बाद 'बळवंतराव' हो गया।

बाळ जब हाई स्कूल में था, तभी से ट्रेनिंग कॉलेज में पढ़नेवाले शिक्षक-विद्यार्थी उसके पास मराठी व्याकरण समझने के लिए आने लगे थे। पिता की तरह ही उसकी भी इस विषय में दिलचस्पी थी। कॉलेज में जाने के बाद उसने अनेक व्याकरण पढ़कर अपने लिए एक संक्षिप्त टिप्पणी तैयार की थी। कहा जाता है कि वह इतनी अच्छी बनी थी कि यदि छपती, तो शायद अच्छी पुस्तक का काम देती।

गंगाधरपंत का स्वास्थ्य बाळ का विवाह होने के पहले से ही कुछ खराब रहता था। उनके पिता भी इस विवाह से कुछ पहले ही काशी में समाधिस्थ हुए थे। बाळ के विवाह के कुछ ही दिन बाद गंगाधरपंत भी स्वर्गवासी हुए। इस दुःखद घटना के समय वह मैट्रिक में था और परीक्षा सिर पर थी। पिता की मृत्यु का यह आघात उसे कैसा लगा होगा इसकी कल्पना ही की जा सकती है। पर इस कड़ी परीक्षा से उसे निकलना था। अगले दिसंबर में ही उसने परीक्षा दी और उसमें पास हो गया।

: ४ :

डकन कॉलेज में

मैट्रिक पास करने के बाद आगे की पढ़ाई के लिए बाळ ने डकन कॉलेज, पूना में प्रवेश किया। इस समय भारत में अंग्रेजी शिक्षा के पैर जम चुके थे और बबई, कलकत्ता तथा मद्रास विश्वविद्यालयों को स्थापित हुए करीब एक पीढ़ी हो चुकी थी। अंग्रेजी शिक्षा की पहली फसल के अनेक डिगरीधारी राज-मान्यता के साथ-साथ लोक-मान्यता भी प्राप्त

कर चुके थे। कई बड़े ऊंचे-ऊंचे पदों पर थे और समृद्धी का जीवन व्यतीत कर रहे थे, और स्वाभाविकतया अनेक विद्यार्थी उनके रहन-सहन का अनुकरण करने लगे थे।

डकन कॉलेज शहर से चार-पांच मील दूर था। बाळ वहीं कॉलेज के छात्रालय में रहता था। उस समय दक्षिण के राजा-महाराजाओं और जागीरदारों के लड़के अधिकतर डकन कॉलेज के छात्रालय में ही रहते थे। इसलिए वहां का जीवन बड़ा खर्चीला, तड़क-भड़क का तथा पाश्चात्य लक्षणों से प्रभावित रहा हो तो उसमें क्या आश्चर्य ! ऐसी जगह बाळ जैसे एक शास्त्री के सोलह वर्ष के कच्ची उम्र के लड़के पर क्या असर पड़ेगा, इसकी उसके चाचा को चिन्ता होने लगी। किन्तु बाळ ने उन्हें शीघ्र ही चिन्तामुक्त कर दिया। नये तरीकों और रहन-सहन के बारे में उसने यह प्रश्न उठाया कि कोई भी जो नया तरीका आये, उसका हम क्या अवश्य ही अनुकरण करेंगे ? उसने पुरानी पद्धति के अनुसार जहां रेशमी धोती पहनकर भोजन करने की व्यवस्था थी, वहां नासिक क्लब में प्रवेश किया और सुधारक विद्यार्थियों की टीका या मजाक की कोई परवाह नहीं की।

कॉलेज में दाखिल होते समय बाळ बड़ा कमजोर तथा दुबला-पतला था। उसके बारे में एक सहपाठी तथा मित्र रा० ब० शारंगपाणी ने, जो बाद में बड़ौदा जाकर बस गए थे, लिखा है, "उसका शरीर बड़ा दुबला-पतला था। आंखें निस्तेज थीं और उसकी पलकें बार-बार ऊपर-नीचे गिरती रहती थीं। उसके सिर में फोड़े होते थे।" इसके अतिरिक्त, जैसा-कि हम बता चुके हैं, पिता की छत्रछाया हट गई थी। विवाह भी हो चुका था। जिम्मेदारी की भावना पैदा होने से उसमें अपने-आपको बनाने की तीव्र इच्छा पैदा हुई। यह उसके स्वयं-शिक्षण का आरम्भ-काल था और इसके लिए उसे आवश्यक स्वतन्त्रता भी प्राप्त हो चुकी थी। इसलिए सबसे पहले तो उसने अपने शरीर को मजबूत और सुदृढ़ बनाने का काम हाथ में लिया। इसके लिए उसने पूरा एक वर्ष लगाने का संकल्प किया और बड़ी दृढ़ता के साथ उसने इस संकल्प को पूरा भी किया। एक साल के भीतर-भीतर उसने अपना स्वास्थ्य बड़ा अच्छा बना लिया। साल

भर पहले लकड़ी-से शरीरवाला और तनिक भी श्रम को न सह सकनेवाला बाळ अब इतना मजबूत हो गया था कि वह ८००-८०० दण्ड-बैठक सरलतापूर्वक लगा लेता था और दो-दो घंटे पानी में तैरने का आनन्द लूटता था। अब नागपुर की कड़ी सरदी का भी उस पर कोई असर नहीं होता था।

बाळ तैरने में इतना निपुण हो गया था कि वह मुळामुढा नदी के पानी पर चित्त लेटकर धीमे-धीमे रोटी खाने का अभ्यास करता था। इसके अतिरिक्त वह घंटों नाव भी खेया करता था।

लेकिन पहलवान जैसे शरीर से ही मनुष्य में साहस, निर्भयता आदि के गुण नहीं आ जाते। बाळ में साहस और निर्भयता के गुण भी काफी मात्रा में थे। इस प्रसंग में उसके कॉलेज-जीवन की एक मिसाल देना अनुपयुक्त न होगा।

एक बार बाळ और उसके कुछ हमउम्र साथी छात्रालय के छज्जे पर बैठें गपशप कर रहे थे। एकाएक यह सवाल पैदा हुआ कि अगर यहां से एकदम जाने का प्रसंग आ जाये तो कौन क्या करेगा। हरेक ने कठिनाई बताकर अपने-अपने ढंग से कहा, कि मैं ऐसा करूंगा, मैं वैसा करूंगा। लेकिन बाळ ने अपनी धोती की लांग कसी और "मैं ऐसा करूंगा" कहकर एकदम धम्म से नीचे कूद पड़ा। कहीं हाथ-पैर न टूट गया हो, इस डर से सब साथी तुरन्त नीचे जाने के लिए ज़ीने की ओर दौड़े। मगर यह देखकर वे हैरान रह गए कि वह तो स्वयं ऊपर आने के लिए सीढ़ी की तरफ़ आ रहा है!

वर्षों बाद लोकमान्य ने कहा था, "जिस प्रकार हम लोग स्कूल में अन्य विषयों का अध्ययन करते हैं, उसी प्रकार सोलह से पच्चीस वर्ष की आयु के बीच शरीर को कसने का भी अभ्यास करें, तो इसमें संदेह नहीं कि इस उम्र में प्राप्त की गई शक्ति बाद में, व्यायाम की आदत छूट जाने पर भी, पचास वर्ष की आयु तक काम देगी। केवल एक शर्त्त है—खान-पान और आचरण में अत्याचार या अतिरेक नहीं होना चाहिए।" और इसमें उन्होंने कोई अतिशयोक्ति नहीं की थी। कारण १८९९ में जब वह काशी में थे, तब गंगा का १३०० फुट चौड़ा पाट तैरकर पार करने में वह केवल २०-२५ फुट ही नीचे की तरफ़ हटे थे और लौटते समय स्वयं नाव में बैठकर डांड चलाते आये थे। यह सब उन्होंने अपने १८९७ के दूसरी बार के दारुण

कारावास के बाद किया था।

व्यायाम का उनका ऐसा शौक था कि कॉलेज में उनका एक दुबला-पतला विद्यार्थी क्षय के डर से रोज़ हइपो फॉस्फाइट ऑफ् लाइम नामक दवाई लेता था। तिलक ने एक दिन उससे वह शीशी देखने के लिए लेकर फेंक दी और वह उसे अपने साथ अखाड़े में ले जाने लगे। एक वर्ष में वह भी पूरा तन्दुरुस्त हो गया।

एक फ़ैशनपरस्त भाई रोज ताजे फूल अपनी सेज पर बिछाते थे और नाटक की नायिकाओं की भांति अपनी देह को उनसे सहलाते रहते थे। तिलक को ऐसी नजाकत से सख्त नफ़रत थी। उन्होंने उसके बिस्तर को उठाकर फेंक दिया और उसे भी अखाड़े की दीक्षा दी।

कॉलेज में दाखिल होने के बाद तिलक का अध्ययन पूर्ववत चालू रहा। यदि कुछ फर्क हुआ तो इतना ही कि उसमें परिस्थिति के अनुरूप विविधता भी आती गई। परीक्षा में पास होने के लिए नियत की हुई पुस्तकों की आवश्यक पढ़ाई वह सावधानी से जरूर लगकर लेते थे। लेकिन इससे वह अपने ज्ञान का क्षेत्र मर्यादित नहीं होने देते थे। परीक्षा में सफलता प्राप्त करने के लिए कुंजियां उस समय भी थीं। वास्तव में इन कुंजियों से पढ़ाई में कोई विशेष सहायता नहीं मिलती—हां, कुछ रटाई अवश्य हो जाती है। परीक्षा के बाद विद्यार्थी पहले की तरह ही कोरा रहता है। बाळ को विद्या का रस था। कुंजियों की सहारा न ले वह विषय सम्बन्धी विस्तृत साहित्य पढ़कर अपनी स्वतंत्र टिप्पणियां स्वयं तैयार करता था।

मराठी व्याकरण की भांति मराठी वृत्तों के बारे में भी तिलक ने काफी परिश्रम किया था। वर्षों के बाद मराठी के प्रसिद्ध कवि मोरोपंत के काव्यग्रंथों के संपादन और प्रकाशन का काम करते समय कवि के वंशज श्री पराड़कर को पता चला कि मोरोपंत के ग्रंथ 'सार रामायण' के किसी एक वृत्त के विषय में तिलक के संग्रह में एक ग्रंथ है। वह उसे लेने के लिए उनके पास गए। तिलक उस समय किसी काम में व्यस्त थे। इसलिए ग्रंथ निकालकर तो वह स्वयं नहीं ला सके, मगर अपनी जगह पर बैठे-बैठे ही उन्होंने श्री पराड़कर को सारी जरूरी जानकारी देते हुए कहा, "मैं जब डकन कॉलेज में पढ़ता था, तब सब प्रकार के वृत्तों का ज्ञान

आसानी से हो जाय इसके लिए मैंने उनका एक खाका तैयार किया था वह कागज भी ढूंढ़कर मैं आपको दे दूंगा ।"

गणित, संस्कृत, इतिहास, धर्मशास्त्र आदि 'उदार शिक्षा' के विषयों का तो उन्होंने गहरा अध्ययन किया ही था, किन्तु नये युग में ग्रंथों से अर्जित ज्ञान को प्रयोग की कसौटी पर कसने का महत्त्व भी वह समझ गए थे। इसलिए खगोलशास्त्र के प्रायोगिक अभ्यास के लिए वह रात को जागरण करके प्रोफेसर छत्रे के साथ दूरबीन से आकाश का निरीक्षण करते थे । शरीर की रचना और उसके व्यापार-विषयक शास्त्रों के बारे में भी उन्होंने कई पुस्तकें पढ़ी थीं और उसका प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने के लिए उन्होंने बैल के हृदय और आँख की अपने कमरे में चीर-फाड़ की थी ।

उस समय डकन कॉलेज के प्रो० छत्रे (१८२४-८४) विद्यार्थियों में विशेष प्रिय थे । वह गणित और खगोलविद्या के ज्ञान के लिए बड़े प्रसिद्ध थे । इतने प्रकांड पंडित होने के बावजूद वह बड़े नम्र थे। उनका रहन-सहन बड़ा सादा था । विद्याव्यासंग और सुजनता, ये दो उनके सर्वोपरी गुण थे। बड़ा आदमी हो या छोटा, सबके साथ वह समान भाव से प्रेमपूर्वक और साफ दिल से मिलते थे। वह हर किसीकी शंकाओं का समाधान करने के लिए तैयार रहते थे। विद्यार्थियों में उनके प्रति बड़ा आदर और प्रेम था । स्वयं उनका भी विद्यार्थियों से बड़ा स्नेह था। उनके घर के दरवाजे विद्यार्थियों के लिए सदा खुले रहते थे। गरीब विद्यार्थियों की फीस आदि के लिए वह आर्थिक सहायता भी करते थे ।

तिलक के गणित के ज्ञान पर वह मुग्ध थे। जब वह मृत्युशय्या पर पड़े हुए थे और अनेक विद्यार्थी उन्हें घेरकर आस-पास बैठे थे, तब किसीने उनसे पूछा, "नाना, आपके जाने के बाद खगोलशास्त्र का क्या होगा ?" उन्होंने तिलक की तरफ़ इशारा करते हुए कहा, "यदि यह चाहेगा तो बहुत-कुछ कर सकेगा ।"

प्रथम वर्ष की परीक्षा पास कर चुकने पर अंग्रेज़ी के विशेष अध्ययन लिए तिलक बंबई के एल्फिन्स्टन कॉलेज में एक सत्र के लिए भरती हो गए । वहां अंग्रेज़ी के अध्यापक प्रो० वर्डस्वर्थ थे, जो अंग्रेज़ी भाषा के महाकवि वर्डस्वर्थ के पौत्र थे। प्रो० हॅथॉर्नवेट गणित के अध्यापक थे।

जब कोई विद्यार्थी उनसे कोई कठिन प्रश्न पूछता, तो वह तुरन्त उसका हल न बता पाते, और अक्सर बाद में बताने का वादा करते थे। इसी तरह के एक प्रश्न को, जिसका हल उन्होंने बाद में बताने का वादा किया था, दोपहर की छुट्टी के समय तिलक ने काले तख्ते पर हल कर दिया। दोपहर की छुट्टी के बाद उस हल को देखकर प्रोफेसर साहेब को बड़ा ताज्जुब हुआ। जांच करने पर पता चला कि इसे 'छत्रे के शिष्य' तिलक ने हल किया है। इसके बाद जब कभी विद्यार्थी कोई कठिन प्रश्न पूछते, तो वह उन्हें सीधे तिलक के पास भेज देते।

संस्कृत में कविता करना तिलक ने कॉलेज में भी जारी रखा। उस समय में प्रो० जिन्सीवाले संस्कृत के फेलो थे। बाद में वह प्रोफेसर हो गए। उन्होंने तिलक के रचे 'मातृविलाप' काव्य की बड़ी प्रशंसा की थी। 'मातृ-विलाप' के दो श्लोक यहां दिये जाते हैं :

पितरौ प्रथमं ततः सुतो हननस्य क्रम एष भो विधे।
तनयः प्रथमं कथं त्वया मम नीतः प्रतिकूल चारिणा ॥
न भवान् भवनाद् बहिर्गतोऽनुमतिं प्राप्य कदापि नो मम।
अधुना परिहाय मां कथम् सुत नापृच्छ्य दिवं प्रयास्यसि ॥

प्रो० हॅथॉर्नवेट का पढ़ाने का ढंग तिलक को पसंद नहीं आया। इसलिए वह फिर डकन कॉलेज वापस चले गए और वहां गणित की तैयारी अपने-आप करके १८७६ में बी० ए० की परीक्षा में बैठे और ऑनर्स के साथ प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। १८७७ में इसी विषय को लेकर वह एम० ए० की परीक्षा में बैठे, पर उसमें वह अनुत्तीर्ण रहे। फिर एम० ए० का विचार छोड़कर उन्होंने वकालत करने का विचार किया। १८७९ के दिसम्बर मास में उन्होंने एल्-एल्० बी० की परीक्षा दी और उसमें उत्तीर्ण हो गए।

: ५ :

आगरकर से दोस्ती

जिन दिनों तिलक डकन कॉलेज में वकालत पढ़ रहे थे, उन्हीं दिनों श्री गोपाल गणेश आगरकर भी वहीं पर एम० ए० का अध्ययन कर रहे थे।

उनका जन्म भी १८५६ में सतारा ज़िले हुआ था। घर की आर्थिक स्थिति अत्यंत खराब होने से उनकी अंग्रेज़ी की तीसरी कक्षा तक की पढ़ाई अपने मामा के साथ कर्‌हाड नामक गांव में हुई थी। मामा आगे की पढ़ाई के लिए पूना चले गए और आगरकर को अदालत में पांच रुपये महीने की नौकरी करनी पड़ी। लेकिन उन्हें आगे पढ़ने की बड़ी इच्छा थी। इसलिए अपने ऊपरी मुन्सिफ से ७५ रुपये की सहायता लेकर वह रत्नागिरी में अपने चाचा के पास, जो वहां पर उप-सहायक शिक्षा-निरीक्षक थे, मदद की आशा से गए। कर्‌हाड से रत्नागिरी का करीब डेढ़सौ मील का फासला बारह-तेरह वर्ष के किशार आगरकर ने पैदल ही तय किया। मगर चाचा ने भतीजे की पढ़ाई में कोई दिलचस्पी नहीं ली। इसलिए आगरकर ने भोजन के 'वार' (दिन) नियत करके, और भोजन परोसनेवाले का काम करके अध्ययन शुरू किया। लेकिन इस स्थिति से वह बड़ी जल्दी ऊब गए, और इसलिए रत्नागिरी से कर्‌हाड वापस आकर वह एक दवाखाने में कम्पाउन्डर की नौकरी करने लगे। किन्तु वहां मुर्दों की चीर-फाड़ के समय हाज़िर रहना अनिवार्य था। इससे उन्हें बड़ी घृणा होगई और उन्हें यह काम छोड़ना पड़ा। उनके एक मामा अकोला (मध्यप्रदेश) रहते थे। उनके स्त्री-बच्चों को पहुंचाने के लिए उन्हें अकोला जाना पड़ा। वहां वह हाईस्कूल में दाखिल हो गए और प्रधान-अध्यापक श्री विष्णु मोरेश्वर महाजनी की मदद और प्रोत्साहन से उन्होंने १८७५ में मैट्रिक की परीक्षा देदी, जिसमें वे उत्तीर्ण भी हो गए।

मैट्रिक के बाद मामा तथा अन्य रिश्तेदार उन्हें कहीं धंधे से लग जाने की सलाह देने लगे। लेकिन उन्होंने अपना डिगरी लिये बिना पढ़ाई न छोड़ने का निश्चय प्रकट किया। श्री महाजनी ने अपने साथियों से चंदा लेकर आगरकर के लिए ६० रुपये इकट्ठा किये। लगभग तीन महीने का यह पाथेय लेकर आगरकर पूना गए और वहां डकन कॉलेज में दाखिल हो गए। निर्धनता के कारण वहां कभी-कभी तो उन्हें केवल एक ही कुर्ते पर दिन काटने पड़ते थे। प्रातःकाल उठकर वह कुर्ता धो डालते और दोपहर को वही पहनकर कॉलेज जाते। इस प्रकार विद्या-प्राप्ति के लिए आगरकर ने बड़ा घोर तप किया और अपनी पढ़ाई बड़े सुन्दर ढंग से पूरी की। इतनी

कठिनाइयों का सामना करके और विडंबनाएं सहकर उन्होंने बी० ए० की उपाधि प्राप्त की थी। इसलिए अब उनके लिए उनके लिए कोई अच्छी-सी नौकरी हासिल करके आराम की ज़िंदगी बिताने की पूरी गुन्जाइश थी। लेकिन आगरकर का लक्ष्य लोक-सेवा था। एक बार किसी मित्र ने उनके बड़े मामा की उपस्थिति में उनसे पूछा, "अब आपने आगे क्या करने की सोची है?" इसके पहले कि आगरकर कुछ उत्तर दें, मामा ने खुलासा करते हुए कहा, "इसके लायक जगह तो सब-जज की ही है। इसकी पढ़ने-लिखने की हविस वहीं पूरी हो सकेगी। कॉलेज में प्रोफेसर या हाई स्कूल का हेड मास्टर हुआ तो उसमें भी गुन्जाइश है, पर सारा शिक्षा-विभाग तो वैसे ही बिल्कुल निकम्मा है।"

इस पर आगरकर ने हंसते-हंसते कहा, "मामा की यह बात कर्ण को एक ओर रखकर कृपण के दातृत्व का वर्णन करने जैसी है। जिसके कारण अच्छे मुंसिफ, अच्छे तहसीलदार और अच्छे वकील पैदा होते हों, वह सारा शिक्षा का क्षेत्र ही यदि निकम्मा है तो फिर... शिक्षा-विभाग में जो अव्यवस्था है, उसे दूर करके हमें उसे अनुकूल बनाना है। इसलिए मुझे तो शिक्षक ही बनना है, और वह सिर्फ दक्षिणा लेने के लिए नहीं, बल्कि इसलिए कि मैं ऐसी शिक्षा दे सकूं जिससे लोगों में स्वतन्त्रता से विचार करने की शक्ति पैदा हो और वे अपना उन्नति का मार्ग देखने लगें।"

तत्त्वज्ञान का विषय लेकर बी० ए० की परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर आगरकर को कॉलेज की फेलोशिप मिली। इससे उन्हें एम० ए० की पढ़ाई निश्चिन्त होकर करने की सुविधा मिल गई। इधर तिलक वकालत के अध्ययन के लिए डकन कॉलेज में आ गए थे। तिलक और आगरकर के विकास और गठन में ज़मीन-आसमान का फर्क था। तिलक के पिता एक शास्त्री थे और संस्कृत तथा परम्परा के उपासक थे। इसके अलावा तिलक को अपने जीवन में किसी क्लेश का या विक्षेप का सामना नहीं करना पड़ा था। आगरकर को उसका लाभ मिला नहीं दीखता। उनके भाग्य में तो घर-बार छोड़कर ही विद्या की उपासना करना बदा था। शुरू से ही उन्हें विपरीत परिस्थिति का सामना करने की आदत

पड़ गई थी। साथ ही वह इतने ही निडर और स्पष्ट वक्ता भी थे। कॉलेज में तत्त्वज्ञान के अध्ययन के विषयों में भारतीय तत्त्वज्ञान का उन दिनों स्थान नहीं था। इसलिए प्लेटो से लेकर स्पेंसर और मिल तक सभी का उनका विशेष अध्ययन था। बुद्धिवादी (रैशनलिस्ट) विचार सरणि के वह बड़े भक्त और हिमायती थे। इतना होने पर भी कुछ बातों में तिलक और आगरकर एक ही मत के थे, जैसे इस दलित देश का उद्धार होना ही चाहिए, और उसके लिए शिक्षित लोगों को ऐश-आराम की ज़िंदगी का ख़याल त्यागकर लोगों को ज्ञान देने का कार्य शुरू करना चाहिए, आदि। काफ़ी विचार-विमर्श के बाद दोनों ने इस समाजिक प्रवृत्ति के आधार पर साथ-साथ निस्वार्थ काम करने का निश्चय किया। आगरकर ने अपनी माता को एम० ए० होते ही लिख दिया, "मां, अब मैं एम० ए० हो गया, इसलिए मुझे कोई अच्छी तनख्वाहवाली नौकरी मिल जायगी, और हमारी कंगाली मिट जायगी और हम आराम से रहेंगे, ऐसा मनोरथ तू रखती होगी; मगर यह सब अपने मन से निकाल डालना। मैं ऐसा कुछ नहीं करना चाहता। मैंने तो निर्वाह के लायक वेतन लेकर अपने अज्ञानी देश-बंधुओं को ज्ञान देने का कार्य शुरू करने का संकल्प किया है।"

: ६ :

न्यू इंग्लिश स्कूल

तिलक और आगरकर, दोनों, शिक्षा के महत्त्व को अच्छी तरह जानते थे। अपने देशबंधुओं को कम खर्चीली और प्रचलित शिक्षा से अधिक ठोस तथा देश के विकास की दृष्टि से उपयोगी शिक्षा देने के लिए ऐसी शिक्षा देनेवाली शिक्षण संस्थाओं का होना आवश्यक था। दोनों मित्रों ने इस कार्य के लिए एक ऐसी संस्था स्थापित करने की बात सोची; किंतु दोनों ही के साधन सीमित थे। बिना दूसरे लोगों की सहायता-सहयोग के यह योजना कार्यरूप में परिणत हो नहीं सकती थी। इस संबंध में कई लोगों से विचार-विमर्श करना पड़ता था। मार्गदर्शन प्राप्त करने के लिए दोनों न्यायमूर्त्ति रानडे से भी मिलने जाते थे। श्री रानडे

एक प्रकार से महाराष्ट्र के सार्वजनिक जीवन के अधिष्ठाता थे। न्यायमूर्त्ति चंदावरकर ने इस तरह की एक मुलाकात का वर्णन इस प्रकार किया है, "इन नौजवानों की बातें सुनकर उनके वहां से चले जाने के बाद किसीने रानडे से कहा, 'इन लोगों को न तो दुनिया का कोई अनुभव है और न इनके पास कोई साधन है; फिर भी बातें बड़ी-बड़ी करते हैं। ये कैसे सफल होंगे ? नाहक सार्वजनिक कार्य की बदनामी करेंगे।' इस पर रानडे बोले, 'आजतक की पीढ़ियां केवल अपनी फुरसत के समय सार्वजनिक कार्य करती आई हैं। ये युवक अपना समग्र जीवन उसमें खपा देने के लिए तत्पर होकर निकले हैं। मान लीजिये कि वे सफल न हुए, तो उनकी भूलें भी बाद में आनेवाले लोगों के लिए मार्गदर्शक होंगी।"

लेकिन इसी समय सरकार को कुछ ऐसा संदेह हो गया कि रानडे का वासुदेव बळवंत फड़के के विद्रोह से संबंध है। अतः उनका एकाएक पूना से धूलिया तबादला कर दिया गया। इससे तिलक और आगरकर को उनका मार्गदर्शन मिलना बंद हो गया।

लेकिन इसी समय तिलक तथा आगरकर को यह पता लगा कि श्री विष्णुशास्त्री चिपळुणकर, जो अपनी साप्ताहिक 'निबंध माला' के कारण समस्त महाराष्ट्र में प्रसिद्ध हो गए थे, अपनी सरकारी नौकरी छोड़कर एक स्वतंत्र स्कूल खोलने की बात सोच रहे हैं। यह मालूम होते ही दोनों मित्र विष्णुशास्त्री से मिलने गए। अच्छी तरह विचार-विनिमय करने के बाद यह तय हुआ कि १ जनवरी १८८० से एक स्वतंत्र स्कूल शुरू किया जाय। तिलक तो स्कूल शुरू होते ही उसमें आकर काम करने के लिए तैयार होगए, पर आगरकर ने एम० ए० की परीक्षा देने के बाद उसमें आने का वचन दिया।

श्री विष्णुशास्त्री चिपळुणकर अर्वाचीन मराठी साहित्य के एक ओजस्वी तथा सिद्धहस्त गद्य लेखक और एक प्रभावशाली समालोचक के में रूप पहले ही अच्छा नाम कमा चुके थे। उनका जन्म १८५० में पूना में हुआ था। उनके पिता श्री कृष्णशास्त्री चिपळुणकर संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। संस्कृत का अध्ययन पूरा करने पर उन्होंने अंग्रेजी का अध्ययन किया। साथ-ही मराठी में गद्य-पद्य दोनों लिखकर काफी प्रसिद्ध प्राप्त की। बरसों

तक वे डकन प्राइज़ कमेटी के 'रिवाइज़र' के पद पर रहे थे, इसलिए उनके यहां अनेक नये-नये मराठी ग्रन्थ जांच के लिए आते रहते थे। इसके अतिरिक्त पूना के विद्वानों में भी कृष्णशास्त्री का स्थान बड़ा ऊंचा था और उनमें से अनेक उनके घर पर आते रहते थे। बालक विष्णुशास्त्री का इन ग्रन्थों और विद्वानों, दोनों के सम्पर्क में रहता था। इस प्रकार विष्णु-शास्त्री को बचपन में ही साहित्य के संस्कार मिल गए। सोलह वर्ष की अवस्था में उन्होंने मैट्रिक पास किया। किन्तु एक तो अध्ययन की अपनी विचित्र पद्धति के कारण, और दूसरे गणित में कमजोर होने के कारण, बी० ए० पास करने में उन्हें लगभग छह वर्ष लगाने पड़े। यह परीक्षा उन्होंने १८७२ में पास की।

विष्णुशास्त्री को डकन कॉलेज में काफी लम्बे अरसे तक रहना पड़ा था। इस बीच में उन्होंने वहां के पुस्तकालय का बड़ा अच्छा उपयोग किया। बी० ए० हो जाने पर वह पूना हाई स्कूल में शिक्षक हो गए। पर वहां के हेडमास्टर श्री कुंटे के साथ उनकी पटी नहीं। फल-स्वरूप उनका तबादला रत्नागिरी हो गया। उन्होंने लिखना कॉलेज में पढ़ते थे, तभी से शुरू कर दिया था। १८७१ में पिता द्वारा चलाये जा रहे 'शाला पत्रक' नामक मासिक का सारा कामकाज विष्णुशास्त्री ने अपने कंधों पर ले लिया। उक्त पत्र में मराठी कविता के बारे में लिखते-लिखते उस कविता के निन्दक मिशनरियों की कटु आलोचना के कारण सरकार ने उस पत्र को ही बन्द कर दिया। १८७४ में विष्णुशास्त्री ने स्व-भाषा, स्व-देश और स्व-संस्कृति की सेवा की दृष्टि से 'निबन्ध माला' नामक एक मासिक पत्रिका शुरू की। उसमें उन्होंने मेकॉले, मॉरिस, मिल आदि पश्चिमी लेखकों, हिन्दुस्तान में काम करनेवाले मिशनरियों और उस विचार सरणी से प्रभावित होकर सुधार की ओर प्रवृत्त हुए हमारे 'स्वाभिमान शून्य' लोगों तथा सरकार को आड़े हाथों लेना शुरू किया। एक तो वैसे ही उन्हें नौकरी का जूआ खटक रहा था, और फिर जब उन्हें अपना कार्यक्षेत्र पूना छोड़कर रत्नागिरी जाना पड़ा, तब तो उन्हें यह बेड़ी और भी अधिक पीड़ा देने लगी। फिर भी अपने पिता की भावना का खयाल करके वह रत्नागिरी चले गए। मगर वहां जाने के कुछ ही दिन

बाद उनके पिता का देहान्त हो गया। इसलिए अब वह सरकारी नौकरी से मुक्त होकर एक स्वतन्त्र स्कूल चलाने की बात सोचने लगे। इसके लिए छह महीने की छुट्टी लेकर वह पूना आये और वहींसे बाद में त्यागपत्र भेजकर अपनी संकलिपत पाठशाला सम्बन्धी योजना के निर्माण में लग गए। इसी समय तिलक और आगरकर, जैसाकि पहले कहा जा चुका है, उनसे मिले और आपसी सलाह-मशविरा तथा चर्चा के बाद उन्होंने १८८० के प्रारम्भ में स्कूल शुरू करने का निर्णय किया।

त्यागपत्र १ अक्तूबर १८८० से अमल में आनेवाला था, इसी प्रसंग में विष्णुशास्त्री ने अपने भाई को लिखा, "अक्तूबर की यह स्मरणीय पहली तारीख निकट आ रही है। उस दिन मैं अपनी गुलामी की जंजीर तोड़ देने की खुशी मनाऊंगा। श्री आगरकर, श्री तिलक, श्री भागवत और श्री करन्दीकर इस स्कूल के काम में मेरा साथ देने के लिए तैयार दीखते हैं। वे सब स्वयं यह कहने को मेरे पास आये थे और हम लोगों ने अपना झंडा फहराने के लिए पहली जनवरी का दिन निश्चित किया है। इसमें कोई शक नहीं कि हमारे इस तोपखाने के आगे हाई स्कूल (सरकारी) तो देखते-देखते ज़मींदोज़ हो जायगा।"

इस नये स्कूल की शुरूआत के पीछे यह भावना तो निश्चित ही थी कि इसमें जो शिक्षा दी जाय वह ऐसी हो जो हमारे देशवासियों के अनुकूल हो, शिक्षा अपनी मातृ-भाषा के द्वारा दी जाय, देश की स्थिति की उन्हें जानकारी कराई जाय, भारतीय संस्कृति का उन्हें भान कराया जाय और साहबी रीत-रिवाज, साहबी पोशाक आदि की आस्था को समाप्त किया जाय। इस सम्बन्ध में तो तीनों के विचार एक-से ही थे। पर हरेक की शिक्षा व संस्कार के भेद के कारण उनमें कुछ भेद भी थे। तीनों की यह धारणा थी कि यह सब काम स्वतन्त्र वातावरण में ही हो सकता है। केवल एक स्कूल शुरू करके सन्तोष करनेवाले ये लोग नहीं थे। तिलक और आगरकर तो शुरू से ही कॉलेज खोलने की बात कर रहे थे, लेकिन यह मानकर कि एकदम कॉलेज खोलना एक बहुत बड़ी छलांग होगी, शुरू में स्कूल खोलने का ही निश्चय किया गया।

विष्णुशास्त्री शिक्षितों से क्या अपेक्षा रखते थे, यह बात उनके 'निबन्ध-

माला' में छपे 'जॉनसन के चरित्र' में व्यक्त है। उसमें वह लिखते हैं, "जॉनसन के चरित्र से हमारी नई पीढ़ी को जो चीज सीखनी है, वह है सतत उद्यमपरायणता। उसने अपने देशबन्धुओं की जिस प्रकार सेवा की, वैसी हमें भी करनी चाहिए। विश्वविद्यालय का अध्ययन समाप्त कर डिगरी लेकर बाहर निकले कि विद्या की सीमा पार हो गई, ऐसी जो विद्यार्थियों की मान्यता है, वह उन्हें बिल्कुल छोड़ देनी चाहिए। वास्तव में जहां उन्हें अपने कर्त्तव्य की समाप्ति मालूम होती है, वहां उसका आरम्भ समझना चाहिए।...विश्वविद्यालय स्थापित हुए बीस वर्ष हो चुके हैं——अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार तो इससे भी बहुत पहले हो गया था। इस लम्बी अवधि में लोक-सुधार के काम में कितनी मदद मिलनी चाहिए थी ? नौजवानों के पढ़ने के लिए हर प्रकार की मनोरंजक पुस्तकों, बहु-श्रुत लोगों को उपयोगी जानकारी देनेवाली पुस्तकों, विभिन्न देशों के संक्षिप्त इतिहास, अलग-अलग शास्त्रों पर सुबोध ग्रंथ, उसी प्रकार हमारे पुराने काव्य और इतिहास आदि को तैयार करना सारे विश्व में आदर प्राप्त संस्कृत भाषा में जो अद्भुत भंडार पड़ा है उसका, तथा उसीकी तरह फारसी भाषा में जो सुन्दर चीजें हैं उनका अनुसन्धान, हिन्दुस्तानी, गुजराती आदि भाषाओं का मराठी के साथ सम्बन्ध, व्याकरण की दृष्टि से उनकी समानता आदि इन सब बातों की ओर यदि हमारे शिक्षित लोगों ने ध्यान दिया होता, तो आज कितना फर्क पड़ जाता ? उसी प्रकार अगर किसी ने हमारी खेती, वाणिज्य-व्यापार तथा उद्योग-धन्धों की ओर ध्यान दिया होता और अपने अंग्रेजी विद्या के ज्ञान का लाभ लोगों को अपनी भाषा में दिया होता, तो इन सब विद्वानों के लिए यह सब कितना श्रेयस्कर होता !" अंग्रेजी की जबरदस्त शक्ति को व्यक्त करने के लिए विष्णुशास्त्री उसे 'शेरनी का दूध' कहते थे।

इस बारे में तथा अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त हमारे लोगों के कर्त्तव्यों के बारे में भी विष्णुशास्त्री के विचारों से तिलक और आगरकर दोनों पूर्णतः सहमत थे।

विष्णुशास्त्री यह मानते थे कि भारत की दुर्दशा और अंग्रेजी राज्य, दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है। १८८० में 'निबन्ध माला' में प्रकाशित एक

लेख 'हमारे देश की स्थिति' में उन्होंने लिखा था, "अंग्रेजों के चरण पड़ने से पूर्व जो राष्ट्र लक्ष्मी, सरस्वती, अन्नपूर्णा, वीरश्री, आदि से सम्पन्न था, उसे नष्ट-भ्रष्ट करके सहारा का रेगिस्तान बना दिया गया है।

"नई विद्या और कला-कौशल की बात तो दर किनार, जो कलाएं हजारों वर्षों से यहां जिन्दा भी हैं, वे बेचारी भी निराश्रित होकर नष्ट-प्रायः हो रही हैं और कुछ तो लुप्त भी हो गई हैं।

"सबसे बड़ी हानि तो यह हुई है कि हमारी मानसिक उन्नति एक-दम रुक गई। जिस व्यक्ति की हड्डियों में परवशता घुस बैठती है, वह धीरे-धीरे स्वाभिमान, लज्जा, धैर्य आदि सद्गुणों से वंचित हो जाता है। दुर्दशा की यह चरम स्थिति आजकल हमारे देश में प्रायः सर्वत्र दिखाई देने लगी है।"

लगभग पचास वर्ष बाद—सन् १९३० में २६ जनवरी के दिन—कांग्रेस की रहनुमाई में देश ने जो पूर्ण स्वतन्त्रता की प्रतिज्ञा ली थी, उसके साथ इसकी तुलना की जा सकती है।

इसके विपरीत न्यायमूर्त्ति रानडे और उनके शिष्य गोखले आदि नरम दल के लोगों की धारणा यह थी कि-भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के पीछे 'दैवी प्रेरणा' है और वह भारत के भले के लिए ही स्थापित हुआ है। तिलक, आगरकर, विष्णुशास्त्री तथा उनके सहयोगियों की धारणा इससे बिल्कुल उल्टी थी। उनकी मान्यता थी कि विदेशी राज एक निरप-वाद अनिष्ट है और स्वतन्त्रता के बिना देश का उद्धार नहीं हो सकता।

श्री भागवत, करन्दीकर आदि जिन लोगों ने अपने को स्कूल में काम करने के लिए तैयार बताया था, वे सब एक या दूसरे कारण से स्कूल शुरू होने के पहले ही खिसक गए। आगरकर को अभी एम० ए० की परीक्षा देनी थी, इसलिए स्कूल की शुरूआत के समय उसके सस्थापकों में विष्णु-शास्त्री और तिलक, दो ही व्यक्ति उपस्थित थे। अलबत्ता माधवराव नाम-जोशी, वासुदेवशास्त्री खरे, नन्दर्गीकर शास्त्री आदि भी उनके साथ थे। इनमें नामजोशी में संस्था के व्यावहारिक पहलू की ओर ठीक तरह से ध्यान देने की अच्छी योग्यता थी। श्री रानडे ने ही उनका नाम इस मण्डल को सुझाया था। वासुदेवशास्त्री खरे उस समय 'काव्येतिहास-

संग्रह' का संपादन कर रहे थे, और नन्दर्गीकर शास्त्री संस्कृत के अच्छे विद्वान थे।

स्कूल के उद्घाटन के अगले दिन कक्षाओं के कमरे लीपने-पोतने आदि का काम तिलक और नामजोशी ने रात को जागकर पूरा किया। बाद में दोनों वहीं के काले तख्ते बिछाकर उन पर सो गए।

पूर्व निश्चयानुसार १ जनवरी १८८० के दिन जब स्कूल का उद्घाटन हुआ, तब १९ विद्यार्थी उपस्थित थे और १५० नाम हाजरी-पत्रक में दर्ज हो चुके थे। इस प्रकार स्कूल का काम शुरू हुआ। विद्यार्थियों की संख्या तेजी से बढ़ती गई। मई की छुट्टियां होने से पहले ही यह संख्या ३३६ तक पहुंच गई। सरकारी हाई स्कूल पर इसका क्या असर हुआ, यह बतलाते हुए उसके कार्यवाहक हेडमास्टर श्री वामन आबाजी मोडक ने अपनी रिपोर्ट ने लिखा कि "यहां कुछ उठाईगीरे और ले-भग्गू नौजवानों ने एक नई खानगी पाठशाला शुरू की है, इस कारण फिलहाल हमारे स्कूल की विद्यार्थी-संख्या कुछ कम जरूर हो गई है; पर ऐसे स्कूलों की स्थिति कुकुरमुत्ते जैसी क्षणजीवी होती है, इसलिए हमारे स्कूल की संख्या हमेशा के लिए घटने का कोई खास डर नहीं है।" श्री मोडक के इस विश्वास के बावजूद नया स्कूल उत्तरोत्तर प्रगति करता रहा।

स्कूल का पहला सत्र पूरा होने के दिन विष्णुशास्त्री ने बड़े सन्तोषपूर्वक निवेदन करते हुए कहा, "स्कूल शुरू करने का विचार किये पन्द्रह महीने पूरे हो रहे हैं, और आज आशा से भी कहीं अच्छी तरह इस योजना को पूरी होते देख मुझे आनन्द हो रहा है। जिसे सरकारी निधि का आश्रय है, जिसे अनेक देशी-विदेशी समर्थ संचालकों के कारण प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी है और लोगों के मन में जिसके प्रति एक प्रकार का अनुकूल पूर्वाग्रह है, ऐसी सरकारी संस्था भी, जैसाकि हमें मालूम हुआ है, अपने पास ही पैदा हुई हमारी नई संस्था के कारण काफी चिन्ताग्रस्त हो गई है। यह बात हमारी सफलता की द्योतक है।" स्कूल के वातावरण के विषय में उन्होंने कहा, "हमारे स्कूल के शिक्षक हेडमास्टर के प्रति घंटे लगनेवाले चक्कर के भय से मुक्त हैं। सरकारी निरीक्षक के वार्षिक निरीक्षण का हौआ उन्हें भयभीत नहीं करता। हरएक नये अधिकारी की

तरङ्ग के अनुसार सतत बदलते रहनेवाले शिष्टाचार का पालन करने की उन्हें आवश्यकता नहीं है। यहां वे मशीन की तरह नहीं, वरन् स्वतन्त्र व्यक्ति की तरह काम कर सकते हैं। विद्यार्थियों को अनुशासन के नाम पर दबाया नहीं जाता, उनके उत्साह को अविनय समझकर दुत्कारा नहीं जाता, प्रत्युत उनकी जिज्ञासा को पूरी करने का शिक्षकों की ओर से पूरा प्रयत्न किया जाता है।"

अगस्त में श्री वामन शिवराम आप्टे नामक एक विद्वान और परिश्रमी शिक्षक स्कूल में आये। वह एम० ए० पास थे और कॉलेज के दिनों से ही उनकी योग्यता और विद्वता की बड़ी ख्याति थी। उनके लिए स्कूल में विशेष रूप से सुपरिन्टेण्डेन्ट की जगह बनाई गई। श्री आप्टे बड़े अनुशासन प्रिय थे। अतः उनका कामकाज बड़ा निश्चित और व्यवस्थित था। आज भी शिक्षा-जगत में उनका नाम संस्कृत-अंग्रेजी तथा अंग्रेजी-संस्कृत कोशों और 'ए गाइड टु संस्कृत कॉम्पोज़ीशन' आदि पुस्तकों के कारण विख्यात है। स्कूल की जो तेजी से प्रगति हुई, उसका काफी श्रेय आप्टे को दिया जाता है। अधिकतर शिक्षक अपने-अपने विषय के इतने ज्ञाता तथा विद्वान थे कि बाद में जब फर्ग्युसन कॉलिज खुला तब वे उसमें भी अध्यापन-कार्य करने लगे।

तिलक स्कूल में गणित और कभी-कभी अंग्रेजी पढ़ाते थे। विद्यार्थियों की ग्रहणशक्ति के अनुरूप पढ़ाना उनके लिए सहज नहीं था। आगरकर और आप्टे, इस बारे में, उनसे अधिक योग्य थे। अपना पाठ छोड़कर वे विद्यार्थियों के साथ प्रचलित प्रश्नों की चर्चा में कभी नहीं पड़ते थे। विद्यार्थी भी उनको ऐसी चर्चा में खींच नहीं सकते थे। किन्तु उनके प्रति विद्यार्थियों में आदर खूब था।

बाद में कॉलेज खुल जाने पर वह वहां गणित और संस्कृत, और कभी-कभी विज्ञान भी पढ़ाने लगे। स्कूल की अपेक्षा वहां वह अधिक सफल सिद्ध हुए। फिर भी सामान्य कोटि के विद्यार्थियों के लिए उनका पढ़ाना सुगम्य नहीं था। भर्तृहरि के शतक, मेघदूत इत्यादि पढ़ाते समय वह बिल्कुल तल्लीन हो जाते थे।

स्कूल के छात्रों की संख्या लगातार बढ़ती ही गई, और, पांचवें

वर्ष तो यह संख्या लगभग एक हजार हो गई। पहले वर्ष ही स्कूल का मैट्रिक का परीक्षा-फल ७५ प्रतिशत रहा। दूसरे वर्ष ८९ प्रतिशत रहा। इसपर गवर्नर के निजी सचिव ने पत्र लिखकर स्कूल के संचालकों का अभिनन्दन किया। जगन्नाथ शंकर सेठ स्कॉलरशिप तो जैसे इस स्कूल का ही इजारा बन गई। इस तरह स्कूल की प्रगति के साथ-साथ उसकी कीर्ति भी सारे महाराष्ट्र में फैलने लगी। अनेक विद्वान और प्रसिद्ध व्यक्ति स्कूल देखने के लिए आने लगे। १८८२ के अगस्त मास में श्री तैलंग ने (जो बाद में बंबई हाईकोर्ट के न्यायाधीश हुए) स्कूल देखकर कहा, "मेरा भी आप सबके साथ मिलकर यहां काम करने का मन होता है।" प्रो० वर्डस्वर्थ ने अपना मत दिया, "स्कूल ने जो सफलता प्राप्त की है, उसे देखकर मुझे वास्तव में आश्चर्य होता है।...सुशिक्षित लोग सरकारी नौकरी की अपेक्षा न रखते हुए तमाम व्यवसायों में स्वावलम्बन के आधार पर उच्च स्थान और कीर्ति प्राप्त करें, इससे अधिक उदार भावना और क्या हो सकती है? भारत के भावी इतिहास पर ऐसी भावना का स्थायी परिणाम हुए बिना नहीं रह सकता।"

भारत सरकार की ओर से १८८२ में नियुक्त शिक्षा-आयोग के अध्यक्ष सर विलियम हंटर ने इस नई शिक्षा-संस्था के बारे में कहा था, "इस स्कूल की प्रगति देखते हुए मैं यह निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि सारे हिन्दुस्तान में इसकी बराबरी करनेवाला एक भी स्कूल मेरे देखने में नहीं आया। बिना किसी प्रकार के सरकारी अनुदान लिये यह सरकारी हाई स्कूल की बराबरी ही नहीं बल्कि उससे होड़ भी कर सकता है। दूसरे देशों के स्कूलों से तुलना करने पर भी इसीका नम्बर ऊपर आयेगा।" इससे यह स्पष्ट होता है कि स्कूल कितनी तेजी से प्रगति कर रहा था, और उसे विद्वानों की मान्यता भी प्राप्त हो रही थी। स्कूल स्थापित करने के पीछे उसके संस्थापकों के मन में क्या उद्देश्य था, वह हंटर-आयोग के सामने स्कूल की ओर से श्री आप्टे ने जो स्मरणपत्र दिया था, उसमें स्पष्ट बताया गया है, "हम भलीभांति जानते हैं कि अवनत स्थितिवाले देशों को भौतिक, नैतिक और आध्यात्मिक पुनर्जीवन देकर उन्हें धीरे-धीरे और शांतिपूर्ण क्रांति के मार्ग से सबसे आगे बढ़े

हुए राष्ट्रों की पंक्ति में लाने का कार्य शिक्षा द्वारा ही किया जा सकता है। और इसे अच्छी तरह करने के लिए शिक्षा का कार्य लोगों के अपने हाथों में होना जरूरी है। इसीलिए हम लोगों ने सार्वजनिक शिक्षा का काम अपने ऊपर लिया है।"

: ७ :

'केसरी' तथा 'मराठा'

न्यू इंग्लिश स्कूल की स्थापना के बाद एक वर्ष के भीतर ही इस युवक-शिक्षक-मण्डल ने लोक-शिक्षण के अंग के रूप में एक मराठी और एक अंग्रेजी अखबार निकालने का निश्चय किया। इस बात की पहले ही चर्चा की जा चुकी है कि विष्णुशास्त्री ने सात साल तक 'निबन्ध माला' नामक मासिक पत्र चलाया या। सरकारी नौकरी छोड़ने पर एक दैनिक अखबार निकालकर जनता के हित के लिए यथासंभव प्रयत्न करने का उन्होंने निश्चय किया था। नामजोशी 'किरण' नामक एक पत्र चला भी रहे थे। आगरकर को भी लिखने का अभ्यास और शौक था। लिखने-बोलने में शायद तिलक ही सबसे अधिक संकोची थे। फिर भी अंग्रेजी पत्र 'मराठा' के शम्पादन की जिम्मेदारी उन्हें और मराठी पत्र 'केसरी' के सम्पादन की जिम्मेदारी आगरकर को दी गई। क्योंकि वह कोई स्थायी व्यवस्था नहीं थी, इसलिए मण्डल के जिस किसी व्यक्ति की अखबारों में लिखने की इच्छा होती, वह लिख देता था।

इन पत्रों का विज्ञापन बम्बई के 'नेटिव ओपीनियन' नामक पत्र में बिष्णुशास्त्री चिपळुणकर, तिलक, आगरकर, आप्टे, नामजोशी तथा गर्दे के हस्ताक्षरों से दिया गया, जिसमें शुरू में ही पत्र का ध्यानमन्त्र पण्डित जगन्नाथराय का यह श्लोक दिया गया था :

"स्थितिं नो रे दध्याः क्षणमपि मदांधे क्षण सखे,
गजश्रेणी नाथ ! त्वमिह जटिलायां वनभुवि !

असौ कुम्भिभ्रान्त्या खरनखरविद्रावितमहा-
गुरुग्रावग्रामः स्वपिति गिरिगर्भे हरिपतिः ।।"[1]

विज्ञापन में इसके बाद पत्र का उद्देश्य बताते हुए कहा गया था, "इसमें अन्य पत्रों की भांति समाचार, राजनैतिक घटनाएं, व्यापार-विषयक जानकारी आदि बातें तो होंगी ही, मगर इनके अलावा सामाजिक स्थिति के बारे में निबन्ध, नई पुस्तकों की समालोचना, आदि विषयों का भी समावेश होगा। इसी प्रकार इंगलैण्ड में जो राज-कार्य की चर्चा होती है, उसका भी सारांश देने का विचार है।

"हमारा यह दृढ़ निश्चय है कि इस पत्र में किसी भी विषय का जो विवेचन किया जायगा, वह निष्पक्ष बुद्धि से और हमें जो सही प्रतीत होगा, उसके अनुसार होगा।...इसमें सन्देह नहीं कि शाही शासनकाल की शुरूआत से ही खुशामद करने की वृत्ति बढ़ गई है। यह वृत्ति एकदम निन्दनीय और देशहित की दृष्टि से हानिकारक है।...हमारे पत्र के लेख उसके नाम के अनुरूप ही होंगे।"

यह विज्ञापन खुद पत्र के संचालकों के आत्मविश्वास का परिचायक था। इसे देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह भारत की विदेशी सरकार के लिए एक खुली चुनौती की तरह था।

'केसरी' में नवीनता के साथ विविधता भी काफी थी। उसके पहले ही अंक में संपादक द्वारा लिखे 'वर्त्तमान पत्र' शीर्षक लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि संपादक-मंडल के क्या विचार थे। उसमें कहा गया था "...आजकल प्रेस लगाकर पत्र निकालना एक धन्धा ही बन गया है। इसलिए ये दो अनमोल साधन ऐसे लोगों के हाथ में पड़े देखने में आते हैं जिनमें शिक्षा के कोई संस्कार ही नहीं होते।...यदि इस उद्योग में अधिक अच्छे लोग आयें, तो लोक-कल्याण का मार्ग ज्यादा सरल बनेगा।

---

[1] मद से अन्धे बने हे हाथियों के समूह के नायक, तू इस निबिड़ अरण्यभूमि में एक भी क्षण मत रहना। क्योंकि ये हाथी हैं, इस भ्रम से जिसने अपने तेज़ नाखूनों से अति प्रचण्ड पत्थरों के ढेर को फोड़ डाला है, वह सिंहों का राजा पर्वत की गुफा में सो रहा है।

"वर्तमान पत्र मुख्यतः दो प्रकार से उपयोगी हो सकते हैं। एक, यदि वे अपना काम निष्पक्षता से और बिना किसी दबाव में आकर करें, तो सरकारी अधिकारियों पर उनका बड़ा दबदबा रहे। दूसरे, समाज की स्थिति को सुधारने का इनके जैसा और कोई साधन नहीं है। कौन-कौन-सी चीजें लोगों के लिए हानिकारक हैं और कौन-सी नहीं, प्राचीन रीति-रिवाजों में कौन-से त्याज्य हैं और नवीन में कौन-से ग्रहण करने योग्य हैं, आदि बातों की चर्चा पत्रों में हो, तो कितना लाभ हो? लोगों के वास्तविक अधिकार क्या हैं, उन्हें प्राप्त करने के लिए कौन-से मार्ग अपनाने चाहिए, लोक-कल्याण की प्रवृत्तियों की क्या दशा हुई और क्यों, लोगों में कौन-कौन-से गुणों का विकास होना चाहिए और यह विकास कैसे हो, आदि विषयों पर लिखने बैठें तो बड़े-बड़े ग्रंथ बन जायं, मगर ऐसा मालूम होता है कि आजतक हमारे नेताओं की प्रवृत्ति कुछ और ही थी। ब्रिटिश पार्लमिण्ट में हिन्दुस्तानियों को प्रवेश मिले, इसके लिए प्रयत्न करना, सारे धर्मों का सार निकालकर नया धर्म बनाना, जातिभेद का तुरन्त नाश करना, शेरअली (सटोरिये) के पास जाकर उसे नीति-धर्म का उपदेश करना, आदि ऐसे-ऐसे भारी कामों का बोझ सिर पर लेने से अबतक हमारा बहुत कीमती समय व्यर्थ हुआ। इसलिए उपरोक्त भूल सुधारने का भी हमारा इरादा है।

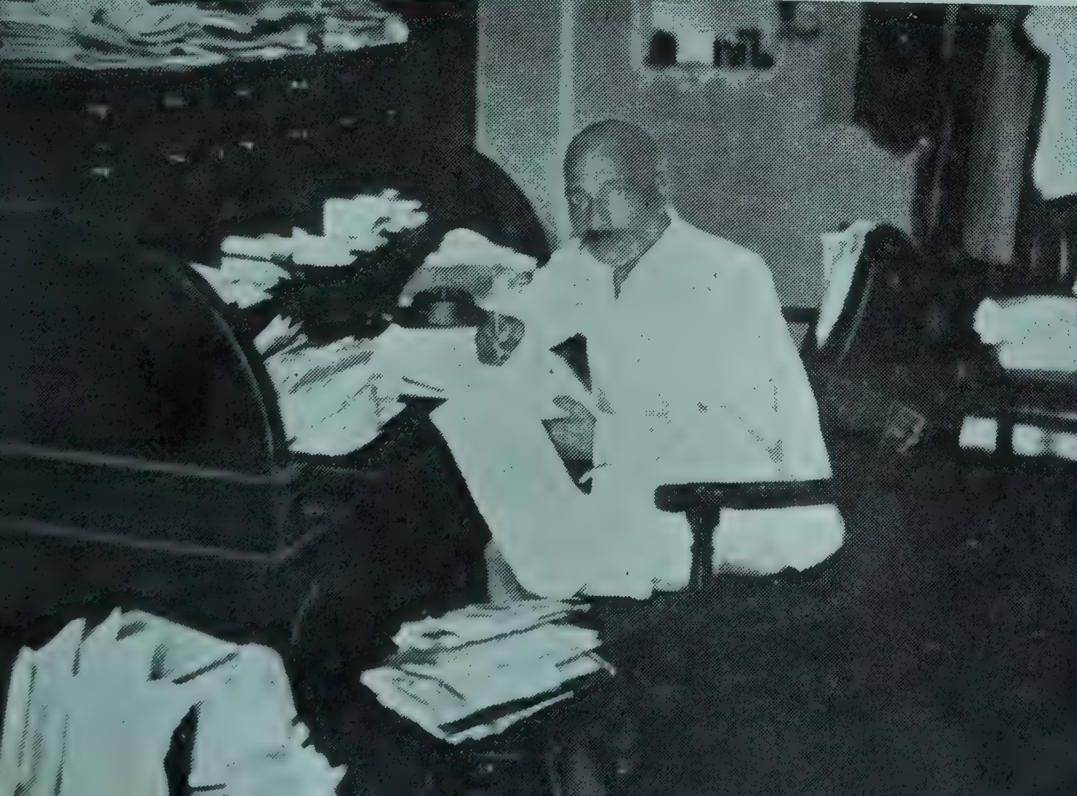
"समाचार पत्रों ने आजतक जिसकी अधिकतर उपेक्षा की है, वह है शिक्षा-विभाग और देशी भाषाओं का साहित्य। अतः इन दोनों विषयों के बारे में भी हमारे 'केसरी' की गरज बार-बार सुनाई देगी।"

यह कहा जा सकता है कि इस लेख में संपादक-मंडल द्वारा निश्चित 'केसरी' की नीति का सार आ जाता है। हमें इसमें विष्णुशास्त्री, तिलक और आगरकर, तीनों की विचार-सरणी का समन्वय दिखाई देता है। सूक्ष्म दृष्टि से लेख पढ़ने पर इन सुधारों का क्रम कुछ इस प्रकार दीखता है—सर्वप्रथम राजनैतिक सुधार, फिर शिक्षा-सुधार और बाद में सामाजिक सुधार। तिलक ने आगे चलकर राजनीति पर जो सबसे अधिक जोर दिया सो अनुचित नहीं कहा जा सकता। शायद उन्होंने यह महसूस किया हो कि और सुधारों पर ज्यादा ध्यान देने से राजनैतिक सुधारों का क्रम



तिलक-परिवार

लोकमान्य : संपादक के रूप में



शिथिल पड़ जायगा।

घोषणा के अनुसार 'केसरी' का पहला अंक १८८१ के पहले मंगलवार के दिन--४ जनवरी को--प्रकट हुआ। जिस प्रकार न्यू इंग्लिश हाई स्कूल की स्थापना के समय उद्‌घाटन के पहले रोज सारी रात जागकर तिलक ने कमरों में लिपाई की थी, उसी प्रकार अखबार की शुरूआत के वक्त भी अखबार के लिए जो छापाखाना खरीदा था, उसके टाइप के केस तिलक अपने सिर पर रखकर नये मकान में ले गए और 'केसरी' का पहला अंक छप जाने पर स्वयं उसे बड़े सवेरे ग्राहकों के घर पहुंचाने गए। ग्राहक संख्या तीन हजार होने तक रैपर आदि लगाने का काम भी ये लोग अपने हाथों से करते थे। संपादकों के लिए कुर्सी की जगह जमीन पर कम्बल बिछा होता, और उस पर बैठकर बिस्तर को मोड़कर उससे मेज का काम चलाया जाता। फिर भी वे सब बड़े आनन्द और उत्साह से अपना काम करते। भर्तृहरि ने सच ही कहा है--'क्रिया सिद्धिः सत्ये भवति महतां नोपकरणे।'

पहले वर्ष पत्र में अधिकतर विष्णुशास्त्री, आगरकर और तिलक के ही लेख थे। सामान्यतः साहित्य-सम्बन्धी लेख विष्णुशास्त्री लिखते, इतिहास, अर्थशास्त्र और समाज-सम्बन्धी लेख आगरकर लिखते, और धर्मशास्त्र तथा कायदा-कानून सम्बन्धी लेख तिलक लिखते थे। पहले वर्ष 'केसरी' की ग्राहक संख्या १८०० थी। वर्ष के अन्त में कोल्हापुर के मामले के कारण, जिसका जिक्र अगले अध्याय में किया जायगा, ग्राहक संख्या एकदम ३५०० तक पहुंच गई। १८८५ में यह संख्या ४५०० हो गई।

न्यू इंग्लिश स्कूल के मंडल ने जब 'केसरी' और 'मराठा' पत्र शुरू किये, तो लोगों की उनके बारे में यह भी धारणा हो गई कि ये लोग केवल शिक्षक ही नहीं, वरन देशाभिमानी, समाजाभिमानी और उद्यमशील देशसेवक भी हैं। राजकार्य में समाचार-पत्रों के द्वारा अधिकारियों पर दबाव डालने के हेतु ऐसे प्रश्नों की चर्चा निर्भय होकर करने का उनका नियम था ही। मगर साथ ही सच्चे और प्रामाणिक समाचार देने के बारे में भी उनका उतना ही आग्रह था।

: ८ :

कोल्हापुर का मामला : पहली जेल-यात्रा

उस समय सामान्य जनता की देशी रजवाड़ों के साथ बड़ी सहानुभूति थी। जब बड़ौदा के महाराज मल्हारराव गायकवाड़ को गद्दी से उतारा गया, तो पूना की एक सार्वजनिक सभा में उनके लिए चन्दा इकट्ठा किया गया था। यह नया मंडल भी देशी राज्यों के प्रति विशेष सहानुभूति का भाव रखता था। इसीलिए बड़ोदा, कोल्हापुर आदि राज्यों में ब्रिटिश सरकार की ओर से होनेवाले जुल्मों के बारे में 'केसरी' और 'मराठा' में वे लोग सतत लेख लिखते और समाचार देते थे।

मल्हारराव के सिंहासनच्युत होने पर उनके दत्तक पुत्र सयाजी-राव राजगद्दी पर बैठे। पर सयाजीराव नाबालिग थे, अतः राज्य का सारा कारबार तत्कालीन दीवान सर टी० माधवराव के हाथ में था। अपनी तरक्की के खयाल से उन्होंने भारत सरकार के साथ बड़ौदा राज्य के कुछ मामलों तथा 'कॉन्टिन्जैण्ट' (तैनाती) फौज के विषय में राज्य की ओर से कुछ करार कर डाले, जो राज्य के लिए नुकसानदेह थे। इसके अलावा उन्होंने सयाजीराव पर सख्त निगरानी रखने की और उनकी स्वतन्त्रता मर्यादित करने की भी कोशिश की। इसलिए इस विषय में 'केसरी' में पूरे एक वर्ष तक आलोचनात्मक लेख प्रकाशित होते रहे। किन्तु उसमें अनधिकृत और बेबुनियाद माने जानेवाले समाचार न देने की पूरी-पूरी सावधानी रखी गई।

बड़ोदा की अपेक्षा कोल्हापुर का मामला अधिक उलझा हुआ था। वहां के राजा राजाराम महाराज का सन् १८७० में यूरोप-यात्रा के समय इटली में देहान्त हो गया। उनकी कोई और सन्तान नहीं थी। विधवा रानियों ने राजपुत्र शिवाजीराव को गोद ले लिया। १८७७ से इस नौज-वान राजा में पागलपन के चिह्न दीखने लगे। यह चर्चा भी चली कि राजा को जबरदस्ती मादक औषधियां दी जाती हैं, जिनके कारण अब

वह पागल होनेवाला है। लोगों की मान्यता थी कि राज्य के दीवान रा० ब० बर्वे की यह चाल है कि शिवाजीराव को मौत के घाट उतारकर या उन्हें पागल साबित करके राजगद्दी से हटा दिया जाय ताकि किसी नये लड़के को दत्तक लेने की विधवा (डॉवेजर) रानी सकवारबाई की इच्छा पूरी हो जाये। अतः इस परिस्थिति को सुधारने के लिए और शिवाजीराव को अधिक विश्वासपात्र संरक्षक की देख-रेख में रखने की मांग करने के लिए पूना में २४ नवम्बर १८८१ को रा० ब० गोपाल हरि देशमुख जैसे उदार नेता की अध्यक्षता में एक बड़ी सभा हुई। सभा में कोल्हापुर के एक वकील नाना भिड़े ने वहां के दीवान की ओर से शिवाजीराव पर किये जा रहे जुल्मों की करुण कहानी सुनाई। इस सभा के कुछ ही दिन बाद राजा को जहर देकर मार डालने की बात फैली और इस षड्यंत्र के विषय में दीवान बर्वे के लिखे हुए तीन पत्र तिलक तथा आगरकर के पास आये। उन्होंने उन पत्रों को प्रसिद्ध वकीलों और न्यायाधीशों को दिखाया तथा उनकी सचाई के बारे में अनेक प्रकार से निश्चय करने के बाद उन्हें 'केसरी' और 'मराठा' में प्रकाशित किया और बर्वे को अपनी निर्दोषता अदालत में साबित करने की चुनौती दी। कुछ दूसरे अखबारों ने भी इन पत्रों को छापा।

पत्रों के बारे में लिखते हुए 'केसरी' के संपादक ने लिखा, "छत्रपति महाराज की वर्त्तमान दशा ऐसी है कि उसे सुनकर पत्थर के दिल पर भी असर हुए बिना न रहेगा। कोल्हापुर के बारे में जो पत्र हमें देखने को मिले हैं, उनसे हमें यह विश्वास हो गया है कि रा० ब० माधवराव बर्वे का अंतःकरण राक्षसी है।"

'मराठा' में इसके बारे में जो लेख छपा, वह तिलक का नहीं, आप्टे का लिखा हुआ था। लेकिन संपादक के स्थान पर तिलक तथा आगरकर का नाम होने से बाद में जब दावा हुआ तो वह उन दोनों पर ही हुआ। यह एक विचित्र संयोग था कि लोकमान्य को तीन बार जेल की यात्रा करनी पड़ी और तीनों बार जेल-यात्रा का कारण दूसरों के लेख ही थे।

अब बर्वे के पास चुनौती स्वीकार करने के अलावा और कोई चारा

नहीं था। इसलिए उन्होंने बंबई हाईकोर्ट में तिलक, आगरकर तथा कोल्हापुर के नाना भिड़े आदि अपने शत्रुओं पर, तथा जिन-जिन पत्रों में पत्र छपे थे, उन सब पर, मानहानि का मुकदमा दायर किया। दावे में उन्होंने कहा कि उनके दुश्मनों ने उनकी "इज्ज़त धूल में मिलाने के लिए षड्यंत्र रचा है। शत्रुओं में से एक नाना भिड़े हैं, जिन्हें वकालत की सनद देने से इन्कार कर दिया गया था, इसलिए उन्होंने बदला लेने के लिए ही यह सब किया है।" उनके (बर्वे के) कथनानुसार राजा की सगी मां का दीवान के साथ बैर था। "अतः वह भिड़े के साथ सहज ही मिल गई। उनका ख़याल था कि कोल्हापुर में कुछ नहीं हो सकेगा, इसलिए उन्होंने बाहर के लोगों के साथ सलाह-मशविरा करके 'केसरी' तथा 'मराठा' आदि पत्रों के अनुभवहीन संपादकों को साधकर अपना बैर निकाला है। उनके लिखे हुए पत्रों के रूप में जो पत्र प्रकाशित हुए हैं, वे सब भिड़े के लिखे हुए जाली पत्र हैं। इसलिए उन पर जो आक्षेप और आरोप लगाये गए हैं, वे गैर-जिम्मेदारी और दुष्ट बुद्धि से लगाये गये हैं।" इसके दृष्टिगत उन्होंने अदालत से अपराधियों को उचित सज़ा देने की प्रार्थना की।

लोगों की सहानुभूति तो तिलक और आगरकर के साथ ही थी क्योंकि उन्होंने शिवाजी के एक वंशज की गद्दी और ज़िन्दगी बचाने के लिए यह कदम उठाया था। उनके बचाव के लिए फिरोजशाह मेहता तथा तैलंग जैसे बड़े-बड़े वकील रखे गए। मुकदमे का सारा महत्त्व उन तीन पत्रों में ही था। वे पत्र सच्चे हैं या जाली? पत्रों को सच्चा सिद्ध करने के लिए कोल्हापुर के गवाहों की जरूरत थी। वे हाजिर नहीं हुए। बंबई हाईकोर्ट के क्षेत्राधिकार से बाहर होने के कारण उन्हें कोर्ट में हाजिर होने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता था, और मुकदमे के व्यक्तिगत तथा गैर-सरकारी होने के कारण बंबई सरकार और पोलीटिकल एजेण्ट बीच में पड़ने को तैयार नहीं थे। कुछ दस्तावेज तिलक तथा आगरकर के पास थे। मगर कोल्हापुर के कुछ सरदारों के अनुरोध पर उन्हें निर्भय करने के लिए तिलक तथा आगरकर ने उन्हें स्वयं अपने हाथों से नष्ट कर दिया। अदालत का फैसला नाना भिड़े के विरुद्ध हुआ और यह कह गया कि पत्र जाली हैं। इसलिए अपने मित्रों की सलाह से तिलक और आगरकर

ने बर्वे से माफी मांगी। किन्तु बर्वे ने यह आग्रह किया कि उन्हें भी सज़ा मिलनी चाहिए। अतः १६ जुलाई १८८२ को तिलक तथा आगरकर को चार-चार माह की कैद की सज़ा सुना दी गई।

दोनों मित्रों को डोंगरी जेल में ले जाया गया। पत्रकार और सार्वजनिक कार्यकर्त्ता के रूप में दोनों को अपना कर्त्तव्य पूरा करने का संतोष था, इसलिए उन्हें जेल-जीवन जरा भी नहीं अखरा। केवल जेल की खुराक देखकर उन्हें अरुचि होती थी। शुरू-शुरू में काम-काज और पढ़ने-लिखने के साधनों का अभाव जरा भारी लगा; बाद में यह अभाव कम तो हुआ, पर आगरकर के अनुसार जेल की खुराक और रहन-सहन के कारण वे दोनों इतने दुबले हो गए थे कि पढ़ने-लिखने की इस सहूलियतों का वे बहुत लाभ नहीं उठा सके। हां, उन्हें आपस में बातचीत करने का पूरा-पूरा अवसर मिला। कभी-कभी तो वे सारी रात बातचीत में लगे रहते थे और इसका अहसास उन्हें तभी होता था कि जब जेल के वार्डर उनसे धीरे बोलने के लिए या सो जाने के लिए कहते थे। बातचीत में पिछली गतिविधियां, आगामी कार्यक्रम आदि सभी बातें आ जाती थीं।

प्रिन्सिपल वर्डस्वर्थ और रा० सा० मंडलिक जैसे लोगों ने उन्हें रिहा कराने का काफ़ी प्रयत्न किया, पर इससे कुछ नहीं हुआ। इस पर ज्योतिबा फुले के पत्र 'दीनबंधु' के सम्पादक ने यह सुझाव पेश किया कि सरकार से प्रार्थना आदि करना छोड़ दिया जाय और देशभक्तों का रिहा होने पर भव्य सत्कार किया जाय। जेल में अच्छे आचरण के कारण उनकी सज़ा से २१ दिन कट गए, और दोनों २६ अक्तूबर १८८२ को रिहा कर दिये गए। 'देशबंधु' के सम्पादक की अपील पर जेल के फाटक पर एक बड़ी भीड़ मौजूद थी। जगह-जगह उन्हें मान-पत्र दिये गए और उनका गुणगान किया गया। उत्तर में दोनों ने कहा कि उन्हें जेल से न तो कभी डर लगा ही था और न कभी आगे लगेगा। देश के प्रति अपना फर्ज अदा करने में वे कभी पीछे नहीं हटेंगे।

मुकदमे के दौरान में उनके बचाव के लिए चन्दा इकट्ठा किया गया था। इस चन्दे के सिलसिले में यहां एक बात का उल्लेख करना अनुचित नहीं होगा। कोल्हापुर में विद्यार्थियों की ओर से एक नाटक किया गया था,

जिसमें श्री गोपालकृष्ण गोखले ने भी इन दो बहादुर व्यक्तियों के प्रति भक्ति से प्रेरित होकर स्त्री-पात्र का अभिनय किया था।

आखिर बर्वे के षड्यंत्र के परिणामस्वरूप कोल्हापुर के राजा को पागल मानकर गद्दी से उतार दिया गया और अहमदनगर के किले में कैद करके रख दिया गया। २५ दिसम्बर १८८३ को भयंकर मारपीट के कारण जेल में ही उसकी मृत्यु होगई। लेकिन सरकारी विज्ञप्ति में मृत्यु को 'आकस्मिक' बताते हुए कहा गया कि "महाराज की तिल्ली (प्लीहा) बहुत बढ़ गई थी। उनकी देखभाल के लिए नियुक्त रक्षक सार्जन्ट ग्रीन का अकस्मात धक्का लगने से उनकी मृत्यु होगई।" 'केसरी' ने इसके आधार पर सरकार की खूब कड़ी टीका की। राजा की मृत्यु के साथ कोल्हापुर के मामले का भी अन्त होगया।

: ६ :

फर्ग्यूसन कॉलेज की स्थापना

कोल्हापुर के मुकदमे के दौरान में ही इस नई संस्था पर एक और बड़ी विपत्ति आई। वह विपत्ति थी श्री विष्णुशास्त्री चिपळुणकर की मृत्यु। मृत्यु के समय चिपळुणकर की उम्र मुश्किल से ३२ वर्ष की थी। इतने कम आयु में उन्होंने जो कार्य किया था, उसका मूल्यांकन तिलक ने १९०१ में उनकी श्राद्धतिथि के दिन इस प्रकार किया था, "यह ठीक है कि पिछले पच्चीस वर्षों में राष्ट्रीय कांग्रेस के आन्दोलन के परिणामस्वरूप तथा अन्य कारणों से जनता में काफी जाग्रति आई है, किन्तु हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि अंग्रेजी शिक्षा के पहले घूंट के साथ जो डर हममें पैदा हो गया था, उसे शास्त्रीजी ने ही दूर किया। इस तरह से एक दिशा में बहते प्रवाह को अपनी कलम के जोर से रोककर उसे सार्वजनिक भावना, सदाचार और सच्चे देशाभिमान की दिशा में मोड़ना कोई मामूली बात नहीं है। यह काम जिसने केवल ३२ वर्ष की उम्र में पूरा किया, उसकी योग्यता सामान्य लोगों की योग्यता की अपेक्षा कहीं अधिक होनी चाहिए।"

हम देख चुके हैं कि न्यू इंग्लिश स्कूल की स्थापना किस प्रकार हुई और उसका उत्तरोत्तर विकास कैसे हुआ। विकास और प्रगति के इस काम का बोझ ज्यादातर तिलक और नामजोशी के ही सिर पड़ा था। सच तो यह है कि जबतक ये दोनों इस संस्था में रहे, तबतक सारा भार इन्हीं दोनों के सिर पर था। उन्हें स्कूल से सम्बन्धित हरेक बात की चिन्ता और व्यवस्था करनी पड़ती थी।

यहां एक बात याद रखनी चाहिए। विष्णुशास्त्री, तिलक तथा आगरकर ने जिस निःस्वार्थ भावना से स्कूल शुरू किया था, वैसी उत्कट स्वार्थ-त्याग की भावना से आप्टे उसमें नहीं आये थे। ऐसा लगता है कि स्कूल शुरू करते समय तिलक और आगरकर ने यूरोप के जेसुइट पंथ की कार्य-पद्धति को अपने सामने रखा था। इस पंथ के लोग आजन्म अविवाहित रहते हैं और जीवन भर संघों में रहकर पंथ के अनुशासन तथा कार्यक्रम के अनुसार कार्य करते हैं। हमारी इस मंडली के सारे सदस्य गृहस्थ थे, इसलिए उनकी पद्धति जेसुइटों से कुछ भिन्न तो अपने-आप ही हो गई थी, पर संस्था के आजीवन सदस्य स्कूल के काम के अलावा और किसी भी तरह का काम न करें, या करें तो संस्था की इजाज़त से करें, और उससे जो आर्थिक लाभ हो वह संस्था का ही माना जाय, इतना तो निश्चित-सा ही था। यह समझ न होती तो बाद में आप्टे के लिए अपवादस्वरूप यह व्यवस्था करने की जरूरत न पड़ती कि वह अपनी लिखी पुस्तकों से होनेवाली आमदनी का खुद उपभोग कर सकेंगे।

चार साल इस तरह से स्कूल के सफलतापूर्वक चलने के बाद इस मंडल ने एक कॉलेज खोलने का विचार किया। कॉलेज खोलने के पीछे एक उद्देश्य यह भी था कि उसके द्वारा न्यू इंग्लिश हाई स्कूल के लिए, और साथ ही महाराष्ट्र भर में मंडल की योजनानुसार खुलनेवाले स्कूलों के लिए शिक्षक तथा कार्यकर्त्ता तैयार किये जा सकेंगे। इसके लिए पहले यह जरूरी था कि मंडल को एक निश्चित तथा विधिवत् रूप दिया जाय और उसका एक स्थायी कोष हो। इसकी जिम्मेदारी भी तिलक और नामजोशी के ही सिर आई। उन्होंने दक्षिण महाराष्ट्र की देशी रियासतों से पचास

हजार रुपये इकट्ठे किये। कॉलेज का नाम बंबई के तत्कालीन गवर्नर के नाम पर फर्ग्यूसन कॉलेज रखा गया। यह स्पष्ट है कि यह नाम इस संस्था के संस्थापकों की घोषित नीति के साथ संगत नहीं था। वास्तव में यह एक गलती थी। ऐसा लगता है कि पहले जोश में नामजोशी ने संस्था की तरफ से यह नाम रखने की बात स्वीकार कर ली हो जिससे अन्य संचालकों के लिए उनकी इस बात के विरुद्ध जाना कठिन हो गया।

पैसे की व्यवस्था हो जाने के बाद इस मंडल को 'डकन एजुकेशन सोसायटी' का नाम देकर व्यवस्थित और विधिवत् रूप दे दिया गया। उसकी नियमावली के अनुसार सोसायटी के तीन विभाग किये गए—कौन्सिल (परिषद्), बोर्ड ऑफ लाइफ मेम्बर्स (आजीवन सदस्य मंडल), बोर्ड ऑफ ट्रस्टीज़। आजीवन सदस्यों के लिए समान वेतन तय था, हां विशेष अवसरों पर उन्हें आवश्यक आर्थिक सहायता देने की व्यवस्था अवश्य थी। एक नियम यह भी था कि परिषद् (कौंसिल) में अन्य सदस्यों की संख्या बराबर ही हो। डॉ० भांडारकर तथा न्यायमूर्त्ति रानडे आदि को इसी नियम के अन्तर्गत कौंसिल में स्थान दिया गया था।

इतनी तैयारियों के बाद कॉलेज को इण्टरमीजिएट कक्षाओं के प्रथम वर्ष के अध्यापन क्रम की आज्ञा मिली। सन् १८८४ के जनवरी महीने में शनिवार पेठ में कॉलेज की कक्षा शुरू की गई। कुछ दिन बाद बुधवार चौक के पास ही कॉलेज की नई इमारत का गवर्नर सर जेम्स फर्ग्युसन के हाथों शिलान्यास कराया गया। शुरू में सरकार सोसायटी को पेशवाओं का प्रसिद्ध शनिवार वाड़ा ही देने के लिए तैयार थी, पर बाद में उसका विचार बदल गया। बुनियाद के पत्थर को भी बाद में बुधवार चौकवाली जगह से हटाकर वर्त्तमान चतुःशृंगी के मैदान पर ले जाना पड़ा। कॉलेज की कक्षा के शुरू होने के आस-पास ही सर्व श्री गोखले, भानु आदि लोग सोसायटी में शामिल हुए।

: १० :

आपसी मतभेद

फर्ग्यूसन कॉलेज की स्थापना तक मंडल के सदस्यों में कभी-कभी थोड़ी-बहुत चख-चख तो हो जाती थी, पर १८८५-८६ में उनके आपसी मतभेद बहुत तीव्र हो गए। पहला मतभेद समाचार पत्रों के बारे में था। बाद में इससे भी अधिक तीव्र मतभेद सोसायटी की रचना के सम्बन्ध में हुआ। समाचार पत्रों के विषय में सदस्यों की यह शिकायत थी कि इनसे सोसायटी के काम को हानि होती है। इसलिए पत्रों की अलग व्यवस्था कर दी गई। पर मुख्य मतभेद तो सोसायटी की रचना के बारे में था। जब न्यू इंग्लिश स्कूल की स्थापना हुई तब उसमें स्वार्थ त्याग का भाव प्रधान था। पहले वर्ष चिपळुणकर और तिलक ने अवैतनिक काम किया था। इसमें अपवाद केवल आप्टे ही थे, जिन्हें संस्था की ओर से मिलनेवाले वेतन के अतिरिक्त निजी कमाई करने की भी छूट दी गई थी। कॉलेज शुरू हुआ, नये आदमी संस्था में आये, इसलिए सदस्यों को कुछ फुरसत भी मिलने लगी। कई लोगों ने यह सवाल उठाया कि आप्टे को जो सहूलियत दी जाती है, वह सबको मिलनी चाहिए। तिलक का कहना यह था कि जिन लोगों ने स्कूल की शुरूआत की है, उनको निश्चित नीति पर डटे रहना चाहिए। दूसरे पक्ष का कहना था कि इस बात का निर्णय बहुमत से होना चाहिए। किन्तु तिलक का मत था कि क्योंकि इस प्रश्न का सम्बन्ध संस्था के मूल सिद्धांतों से है, अतः बहुमत के जोर पर उसमें परिवर्तन करना वांछित तथा सम्भव नहीं है। जिन्हें ये नियम मान्य न हों वे चाहें तो संस्था छोड़ दें। इस तरह यह झगड़ा लगातार बढ़ता ही गया। उसमें कई और व्यक्तिगत कारण भी शामिल हो गए, और उसका अन्त हुआ तिलक के इस्तीफे से।

इस सम्बन्ध में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। कॉलेज स्थापित होने के बाद गोखले ने स्कूल के लिए एक गणित की पुस्तक लिखी। पुस्तक की पाण्डुलिपि शिक्षा बोर्ड के पास अनुमति तथा अनुमोदन के लिए भेजी गई। इस किताब के प्रश्न पर मतभेद पैदा हो गया। तिलक का

आग्रह यह था कि इस प्रकार से लिखी तथा प्रकाशित की जानेवाली किताबों पर एजुकेशन सोसायटी की ही मिल्कियत होनी चाहिए। पर बहुमत उनके विरुद्ध था, और उसके बल पर गोखले को उस पुस्तक की मिल्कियत मिल गई। आगरकर इस मामले में गोखले के साथ थे।

दूसरा प्रश्न भी गोखले के विषय में ही था। विष्णुशास्त्री के चाचा सीतारामपंत सार्वजनिक सभा[1] के मंत्री थे। क्रॉफर्ड के मामले पर (जिसकी अगले अध्याय में चर्चा की जायगी) उनके तथा सभा के सदस्यों के बीच मतभेद पैदा हो गया और उन्हें विवश होकर त्याग-पत्र देना पड़ा। उनकी जगह गोखले का नाम सुझाया गया। एजुकेशन सोसायटी के सामने जब यह सवाल आया, तो तिलक ने इसका विरोध किया और कहा कि इस तरह सदस्य (गोखले) को हमेशा बाहर का काम करने की इजाजत देना नुकसानदेह है। पहले तो तिलक को बहुमत मिल गया, पर बाद में किसी सदस्य ने अपना मत बदल दिया और गोखले उक्त सभा के मन्त्री बन गए।

इस तरह से इन दोनों मामलों में गोखले का पलड़ा ही भारी रहा। पर इन सब बातों से उन्होंने एक सबक जरूर सीखा। सन् १९०५ में उन्होंने जब सर्वेन्ट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी की स्थापना की, तब उसके नियमों में उन्होंने यह नियम भी रखा :

"सदस्य के, या उसका परिवार हो तो उसके, भरण-पोषण के लिए सोसायटी जो व्यवस्था कर दे, उसे उसीसे सन्तुष्ट होना पड़ेगा। वह अपनी शक्ति का किसी भी रूप में व्यक्तिगत कमाई के लिए उपयाग नहीं कर सकेगा।"

वास्तव में तिलक का आग्रह भी तो यही था। उन्होंने शुरू से इस बात पर जोर दिया कि सोसायटी की रचना और नियम मिशनरी संस्थाओं जैसे होने चाहिए और शिक्षण संस्थाओं पर उसका पूरा नियंत्रण रहना चाहिए। सोसायटी में बाद में आये हुए सदस्यों के गले यह बात उतारने की उन्होंने बहुत कोशिश की, पर उन्हें सफलता नहीं मिली और

[1] पूना की एक सार्वजनिक संस्था

मनमुटाव पैदा हो ही गया। धीरे-धीरे यह मनमुटाव बढ़ता गया और तिलक की पढ़ाने की पद्धति तथा बर्त्ताव की भी टीका-टिप्पणी होने लगी। कुछ समय इस झमेले से दूर रहने के लिए तिलक ने छह महीने की छुट्टी ले ली। छुट्टी के बाद आप्टे के अनुरोध से वह फिर सोसायटी में काम करने लगे। लेकिन वातावरण फिर भी नहीं सुधरा। इसलिए १५ दिसम्बर १८९० को उन्होंने बड़े दुःखी हृदय से सोसायटी से त्याग-पत्र दे दिया। त्याग-पत्र के कुछ अंश नीचे दिये जाते हैं, जो उनके दृष्टिकोण का बड़ी अच्छी तरह से दिग्दर्शन कराते हैं :

"एक निश्चित उद्देश्य को सामने रखकर हम सब एक जगह इकट्ठा हुए। उसे आज ग्यारह वर्ष पूरे हो रहे हैं। इस अवधि में अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए हम सबने अपने सामने आनेवाले संकटों का समान रूप से सामना किया, उद्यम किया और कष्ट सहन किये, और दुर्वचन, अपमान, उपहास और निराशा के कड़वे घूंट भी पिये। इतना सब करने के बाद उस संस्था को छोड़कर जाने की बात आपसे कहते हुए मुझे जो अपार वेदना हो रही है, उसकी कल्पना तो वही कर सकता है जिसके जीवन में कभी ऐसा प्रसंग आया हो।

"जिन सिद्धान्तों का अनुसरण करने का हमने शुरू में निश्चय किया था और जिनकी बदौलत हमें इतनी सफलता और बड़ाई मिली, उनके प्रति आज एक प्रकार की शिथिलता और लापरवाही की वृत्ति दिखाई देने लगी है। मैंने इसकी निन्दा की है। किन्तु इसका परिणाम केवल दिल की जलन और एक-दूसरे के प्रति आक्षेपों के सिवा कुछ सामने नहीं आया।

"इन सब कठिनाइयों से बाहर निकलने का मुझे सिर्फ एक ही रास्ता दिखाई देता है—या तो संस्था के सेवकों को बाहर का काम बिल्कुल बन्द कर देना चाहिए या मिशनरी संस्थाओं की तरह इन कामों से होनेवाली कमाई संस्था के फंड में जानी चाहिए।

"मैं नहीं मानता कि किसी संस्था के हेतु और उद्देश्य एक बार निश्चित हो जाने के बाद बहुमत के बल पर उन्हें बदलकर अल्पमत के सिर थोपने का बहुमत को अधिकार है। हां, उनमें परिवर्तन हो सकता है। और जो इस परिवर्तन से सहमत न हों, उन्हें इसका विचार करने

का मौका देना चाहिए कि वे संस्था में रहें या नहीं।

"मेरी हमेशा यह मान्यता रही है कि हमारी संस्था जैसी संस्था के लिए स्वार्थत्याग और स्वार्थसंन्यास की बड़ी आवश्यकता है। इसी कसौटी पर हमारी परीक्षा होगी और इसीके बल पर हम जीयेंगे या मरेंगे। इसलिए जो बात इस नियम से भिन्न लगती है वह मुझसे बर्दाश्त नहीं की जाती।

"संस्था छोड़कर जाने के दुःख से मेरा दिल भारी हो गया है, लेकिन अपनी संस्था के वास्तविक हित के लिए जिस संगठन और एकता की जरूरत है, उसके लिए मैं यह आत्मयज्ञ कर रहा हूं।"

: ११ :

कमिश्नर क्रॉफर्ड का मामला

डकन एजुकेशन सोसायटी से इस्तीफा देकर अलग होने के बाद तिलक के सामने कोई धन्धा ढूंढने की समस्या आई। 'केसरी' और 'मराठा' से कुछ आर्थिक सहायता की आशा थी नहीं। इसलिए उन्होंने दो काम शुरू करने का निश्चय किया—एक, कपास ओटने का कारखाना (जिनिंग फैक्टरी) खोलना, और दूसरा कानून की कक्षाएं शुरू करना। जिनिंग फैक्टरी के लिए आवश्यक पूंजी उनके पास थी नहीं। इसलिए १५,००० रुपये कर्ज़ लेकर हैदराबाद राज्य के लातुर गांव में पूना के दो मित्रों के साझे में फैक्टरी शुरू की। शुरू में कुछ समय कारखाना ठीक चला। किन्तु साझीदारों में और कोई उसकी तरफ ध्यान देने को तैयार नहीं था। इसलिए उससे अधिक प्राप्ति करना सम्भव नहीं था।

अतः निर्वाह का एकमात्र साधन कानून की कक्षा ही बना। समय-समय पर दूसरे वकीलों की सहायता से लगभग आठ वर्ष तक उन्होंने इस कक्षा को अच्छी तरह से चलाया। इससे तिलक को डेढ़सौ रुपये के लगभग प्रतिमास प्राप्त हो जाते थे और उसीसे वह जैसे-तैसे अपनी गुज़र करते थे। कानून की कक्षा में हिन्दू कानून, गवाही-कानून, संविदा-कानून, सम्-न्याय (इक्विटी) आदि कठिन विषय वह स्वयं पढ़ाते थे। हिन्दू धर्म-शास्त्र पर

तो उनका असामान्य अधिकार था। इसलिए इस विषय पर उनके भाषण बड़े सुन्दर होते थे। कभी-कभी तो उन्हें सुनने के लिए शहर के तरुण वकील तक आ जाते थे।

जैसे-जैसे तिलक का डकन एजुकेशन सोसायटी से अलग होने का विचार पक्का होता जा रहा था, वह बाहरी कामों की ओर विशेष ध्यान देने लगे थे। १८८८ में वह प्रसिद्ध 'क्रॉफर्ड केस' में, और १८८९ में कांग्रेस का अधिवेशन पूना में कराने के यत्नों में जुट गए। कांग्रेस का काम तात्कालिक था, पर क्रॉफर्ड के मामले ने उनका काफी समय और शक्ति ली। वैसे तो इस मामले में रानडे, गोखले आदि भी बड़ी दिलचस्पी ले रहे थे, फिर भी अपने उत्साह, लगन और एकाग्रता के कारण इसकी सफलता का सारा श्रेय तिलक को ही प्राप्त हुआ। संक्षेप में क्रॉफर्ड-केस का सार यह है।

क्रॉफर्ड एक अंग्रेज सिविलियन था। वह जितना बुद्धिमान था उतना ही खर्चीला, रसिक और विलासी भी था। उसके यहां अनेक गोरे स्त्री-पुरुषों की हमेशा बैठक जमी रहती थी। यह खर्च उसके निर्धारित वेतन से तो पूरा होना असम्भव था। इसलिए उसने द्रव्यार्जन के दूसरे कई तरीके ढूंढ़ निकाले थे। जब वह रत्नागिरी का कलेक्टर था, तब उसने वहां एक सॉ मिल (लकड़ी चीरने का कारखाना) शुरू किया और उसके हिस्से (शेअर) बेचकर पूंजी इकट्ठी की। कारखाना तो ठीक चला, लेकिन क्रॉफर्ड के बेशुमार खर्च के कारण बाद में उसकी स्थिति बिगड़ गई। इसके अलावा वह नौकरी आदि देने और ज़मीन सम्बन्धी मामलों में खूब रिश्वत भी लेता था। धीरे-धीरे उसके बारे में चारों तरफ चर्चा होने लगी। गोरे लोग भी उसके अनैतिक बर्ताव से तंग आ गए थे। अन्त में उसके सारे कारनामों की जांच करने के लिए २४ जून १८८८ को इन्स्पेक्टर जनरल ऑफ पुलिस मि० ओमेनी की नियुक्ति की गई। कुछ देशी और गोरे कर्मचारी भी क्रॉफर्ड के खिलाफ कार्रवाई कर रहे थे। उन्होंने यह तय किया कि पहले दो-तीन मुकदमे ऐसे खड़े किये जायं जिनसे सिद्ध हो जाय कि तहसीलदारों ने दबाव के कारण क्रॉफर्ड को रिश्वत दी है। फिर दूसरे मामले अपने-आप सामने आ जायंगे। लेकिन प्रश्न यह था

कि तहसीलदार स्वयं रिश्वत देने की बात कबूल करने को तैयार कैसे होंगे ? इसके लिए उन्हें तैयार करने के लिए जांच करनेवाले अधिकारी को, मामले की गम्भीरता के अनुसार, उन्हें अभयदान देने का अधिकार दे दिया गया। मामले में दो पक्ष हो गए। एक पक्ष का यह कहना था कि सिविल सर्विस का एक गोरा अफसर रिश्वत लेने के अपराध में पकड़ा गया है और सरकार उसकी जांच कर रही है, ऐसे अवसर पर तहसीलदारों से रिश्वत देने के प्रमाण दिलाकर उसे बिल्कुल फांस देना चाहिए। दूसरे पक्ष का कहना यह था कि सवाल यह नहीं है कि एक गोरे अफसर की इज्ज़त धूल में मिलने जा रही है, बल्कि यह है कि हमारे देश के लोग रिश्वत देने की बात कबूल करके अपने को अपराधी सिद्ध करें या नहीं, क्योंकि ऐसा करने में कायरता और चुगलखोरी दोनों हैं।

तिलक तथा पूना के कई अन्य व्यक्तियों की राय यह थी कि भ्रष्टाचार को समाप्त करने के लिए उसे सामने लाना जरूरी है। अतः ताल्लुकेदारी मामलों के अधिकारी भीमभाई और क्रॉफर्ड के नेटिव असिस्टेण्ट तथा सचिव पेंडसे की सहायता लेकर उनके द्वारा कुछ तहसीलदारों से रिश्वत देने की बात स्वीकार करवाली गई। इससे पहला मामला शुरू हो गया। क्रॉफर्ड की तरफ से रिश्वत लेने में 'दलाल' का काम करनेवाले मुख्य व्यक्ति थे कर्नाटक के हनुमंतराव इनामदार। १६ जलाई १८८८ के दिन उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। मकदमे में उन्हें दो वर्ष की सादी कैद तथा २,००० रुपये जुर्माने की सजा हुई।

हनुमंतराव की गिरफ्तारी के साथ ही क्रॉफर्ड भी मुअत्तल कर दिया गया। हनुमंतराव को सजा होते ही क्रॉफर्ड एक दिन यह पत्र लिखकर कि "चिन्ता और अपमान का दुःख असह्य होने से मैं मुळा नदी में आत्महत्या करने जा रहा हूं"—वेष बदलकर भाग निकला। ओमेनी ने इस चिट्ठी की बात सही न मानी और चारों ओर इसकी सूचना दे दी तथा खुफिया पुलिस के आदमी भी रवाना कर दिये। फलस्वरूप क्रॉफर्ड बंबई में गिरफ्तार कर लिया गया। सरकार ने मुकदमा अदालत को न देकर एक आयोग के सुपुर्द कर दिया। आयोग ने रिश्वत का आरोप तो अप्रमाणित मानकर रद्द कर दिया और केवल अपने मातहत

काम करनेवालों से कर्ज के रूप में या भेंट-स्वरूप रकमें लेने का आरोप ही माना। पर बंबई सरकार ने अपने पास के सबूतों के आधार पर—जिन्हें आयोग ने आगे नहीं आने दिया—आयोग के फैसले को अस्वीकार करके क्रॉफर्ड पर लगाये गए आरोपों को सिद्ध माना। जब मामला भारत-सचिव के पास गया, तो उन्होंने आयोग का फैसला ही मान्य रखा और क्रॉफर्ड को केवल नौकरी से हटा दिया और उसका नाम सनदी नौकरों के रजिस्टर से निकाल दिया।

अब सवाल यह हुआ कि जिन तहसीलदारों ने रिश्वत देने की बात कबूल की थी, उनका क्या हो? कबूल करते समय सरकार ने उन्हें क्षमा प्रदान करने का वचन दिया था और उन्हींकी बदौलत क्रॉफर्ड के कर्ज और भेंटों की बात प्रकट हुई थी। मगर बाद में सरकार इस मामले में ढीली पड़ गई। तिलक ने तहसीलदारों की जोरदार हिमायत की और उनका सवाल एक आम सवाल बन गया। इसके लिए पूना में १ सितम्बर १८८९ को एक बड़ी सभा हुई, जिसमें रानडे, भांडारकर आदि सभी शामिल थे। तिलक ने अपने भाषण में कहा, "अभय-वचन का पालन न करना विश्वासघात है और ऐसा भारत-सचिव तो क्या, स्वयं पार्लमिण्ट भी नहीं कर सकती। न्याय के निमित्त दिये अभय-वचन के पालन से कानून-भंग का दोष नहीं रहता।" इसके प्रमाण में उन्होंने खुद ब्रिटेन की एक मिसाल पेश की, और कहा कि सन् १७२५ में इंगलैण्ड में लॉर्ड चान्सलर के अधिकार में कुछ नियुक्तियां थीं जिन्हें वहां के एक प्रमुख लार्डने पचास-पचास हजार रुपये की रिश्वत देकर खरीदा था। यह पार्लमिण्ट की बात है। बाद में जब अदालत में मुकदमा चला, तब सबूत इकट्ठे करने के लिए क्रॉफर्ड के मामले की तरह उस मामले में भी क्षमा का वचन दिया गया और उस वचन को पूरा करने के लिए दो ही दिन के भीतर पार्लमिण्ट को कानून पास करना पड़ा। विलायत में जब ऐसे लोग नौकरी के लायक माने गए, तब ये तहसीलदार ही किस आधार पर अयोग्य माने जायें? इसलिए इन सब तहसीलदारों को बिना किसी भेदभाव के नौकरी पर कायम रखा जाना चाहिए।

इसके बावजूद सरकार ने इस बारे में भेदभाव बरतना शुरू किया

कि किस-किस को नौकरी पर रखा जाय। आखिर भारत सरकार ने केन्द्रीय-विधान-सभा में एक बिल पेश किया। उसमें केवल यही आश्वासन दिया गया कि किसी भी तहसीलदार पर दीवानी या फौजदारी मुकदमा नहीं चलाया जायगा। नौकरी पर रखने-न-रखने के विषय में कोई उल्लेख नहीं था। तिलक ने बंबई के गवर्नर लॉर्ड रे को संबोधन करके बहुत-कुछ लिखा, और ऐसे अधूरे बिल को मंजूरी न देने की बात भी सुझाई। लेकिन अन्त में बिल अपने मूल रूप में हो पास ही गया। तहसीलदारों के दो वर्ग बना दिये गए। जिन्हें जोर-जबरदस्ती के कारण रिश्वत देनी पड़ी थी, उन्हें माफी दे दी गई। जिन लोगों ने स्वेच्छा से रिश्वत दी थी, उन्हें बिना किसी प्रकार की राहत दिये नौकरी से अलग कर दिया गया।

तहसीलदारों को पूरा न्याय मिले, इसके लिए तिलक ने इंगलैण्ड की पार्लमिण्ट में भी एक विशेष बिल पेश कराने के लिए ब्रैडलॉ और डिग्बी के द्वारा बड़ी कोशिश की। मामले की जानकारी देने के लिए कितने ही बुलेटिन प्रकाशित किये गए। लेकिन सारे प्रयत्न निष्फल रहे।

तहसीलदारों ने तिलक के इस कार्य के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिए उन्हें एक घड़ी और एक दुशाला भेंट किया।

: १२ :

सुधारों का सवाल—१

न्यू इंग्लिश स्कूल की स्थापना के समय उसके संस्थापकों—विष्णुशास्त्री, तिलक और आगरकर—के क्या विचार थे, यह हम देख चुके हैं। धर्म और संस्कृति के बारे में विष्णुशास्त्री और तिलक सनातनी थे और वे यह कोशिश करते थे कि विद्यार्थियों में अपने धर्म तथा संस्कृति के लिए अभिमान पैदा हो। इसके विरुद्ध आगरकर की मान्यता उनसे कुछ अलग थी। वह बुद्धिवादी अधिक थे, और विद्यार्थियों में भी यही भावना उत्पन्न करना चाहते थे।

यदि ये लोग अपनेको शिक्षा के क्षेत्रतक ही सीमित रखते, तो

सम्भवतः उनके उग्र राजनैतिक पचड़ों में पड़ने की सम्भावना न रहती। पर उनका दृष्टिकोण तो शिक्षा के बारे में प्रचलित दृष्टिकोण से आमूल भिन्न था। वे तो शिक्षा भी ऐसी देना चाहते थे कि जो पराधीन देश की सोई जनता को जगाये। उनकी शिक्षा का क्षेत्र भी कहीं अधिक व्यापक था। 'केसरी' और 'मराठा' जैसे अखबारों की स्थापना उन्होंने आम जनता में इसी शिक्षा के प्रसार के लिए की थी।

विष्णुशास्त्री आयु तथा अनुभव में सबसे बड़े थे। अतः जबतक वह जीवित रहे, तबतक अखबार में उनकी बात ही सबसे प्रधान मानी जाती रही।

विष्णुशास्त्री का सन् १८८२ में, जब कोल्हापुर का मामला चल रहा था, देहान्त हो गया। उनकी मृत्यु के बाद (१८८३ में) 'केसरी' में सामाजिक विषयों पर कुछ लेख छपे। उनमें तिलक के लिखे 'प्रथम रजो-दर्शन पर वधू का जलूस निकालने की प्रथा' तथा 'धर्माज्ञाओं के पालन की मर्यादा' शीर्षक लेख भी थे। पहले लेख में उन्होंने लिखा कि धार्मिक प्रश्नों की चर्चा करके लोगों के मन को आघात पहुंचाने की 'केसरी' की बिल्कुल इच्छा नहीं है। लेकिन लोगों के रीति-रिवाज एवं व्यव-हार के बारे में समालोचना करना वह अपना कर्त्तव्य समझता है। इसलिए जब किसी प्रश्न या रूढ़ि का सम्बन्ध अर्थहीन एवं ग्राम्य होते हुए भी, अज्ञान के कारण धर्म के साथ व्यर्थ ही जोड़ दिया जाता है, तब उसके दोषों को स्पष्ट करने में हम नहीं हिचकिचायेंगे। गर्भ-दान जैसी शुष्क, अर्थहीन, ग्राम्य और आसानी से छोड़ी जा सकनेवाली रूढ़ि अगर हम नहीं छोड़ सकते, तो बाल-विवाह जैसी भयानक रूढ़ियां हम कैसे खत्म कर सकेंगे? इन सब विषयों के बारे में लेख लिखकर उनका सच्चा स्वरूप लोगों के सामने रखना 'केसरी' अपना कर्त्तव्य समझता है, फिर लोग इसके लिए 'केसरी' की भले ही निन्दा करें।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक विषयों में 'केसरी' तथा तिलक सुधारों के एकदम विरुद्ध नहीं थे। धर्म के नाम पर प्रचलित कुरीतियों और अन्ध-विश्वासों के बारे में लोगों को जानकारी और शिक्षा देना उनका मुख्य उद्देश्य था। साथ ही वह आर्य-समाज या ब्रह्म-समाज जैसा कोई

नया पंथ भी नहीं स्थापित करना चाहते थे। मंडल के अधिकतर सदस्य भी इसी मत के थे। हां, आगरकर इस विषय में कुछ अधिक तेज़ थे, और इस कारण वह दूसरों से अलग पड़ जाते थे।

लेकिन सन् १८८४ में सामाजिक प्रश्नों पर आपस में विवाद शुरू हो गया। मतभेद का तात्कालिक कारण यह था कि बाल-विवाह-निरोध में सरकारी सहायता ली जाय या नहीं। बंबई के प्रसिद्ध पारसी पत्रकार, कवि और समाज सुधारक बहरामजी मलबारी ने हिन्दू समाज में सुधार करने के इरादे से इसी वर्ष 'बाल-विवाह' तथा 'असम्मत-वैधव्य' पर मसविदे तैयार करके भारत-सरकार और इंगलैण्ड की पार्लमिण्ट के पास भेजे। इनमें कहा गया था कि इस कुप्रथा को रोकने के लिए सरकार को ये कदम उठाने चाहिए—(१) कम उम्र में शादी करनेवालों को विश्वविद्यालयों में दाखला न मिले, (२) उन्हें सरकारी नौकरी न मिले, (३) इसके लिए कानून बनाया जाय। १८८५–८६ में ये मसविदे प्रान्तीय सरकारों को भेजे गए और उन्होंने उन्हें जनमत जानने के लिए कुछ अधिकारियों तथा नेताओं में प्रसारित कर दिया। इससे लोगों को यह डर लगने लगा कि कहीं सरकार इस बारे में कानून न बना डाले।

जब यह प्रश्न 'केसरी' के संचालकों के सामने आया तो उनके अलग-अलग मत सामने आने लगे। संपादक आगरकर का मत था कि बाल-विवाह-निरोध के लिए कानून की सहायता जरूर लेनी चाहिए। तिलक और अन्य सदस्यों का मत इससे भिन्न था। इस मतभेद के कारण इस प्रश्न पर स्पष्ट मत प्रकट करना 'केसरी' के लिए मुश्किल हो गया। आगरकर को भी अपना मत अपने हस्ताक्षर सहित लिखे लेख द्वारा ही व्यक्त करना पड़ा। इस तरह दोनों विषयों पर 'केसरी' में लेख आने लगे। आगरकर का पक्ष कमजोर पड़ने लगा। १५ सितम्बर १८८५ के अंक के संपादकीय लेख में, जो तिलक का लिखा हुआ था, यह कहा गया कि देश की वर्त्तमान स्थिति में राजनैतिक सुधारों के बिना सामाजिक स्थिति में सुधार होना असंभव है। २२ फरवरी १८८६ को बंबई की एक सभा में तैलंग ने लगभग यही बात कही। तिलक ने उनका पूरा भाषण 'केसरी' के दो अंकों में छापा। प्रो० वर्डस्वर्थ, श्री वेडरबर्न आदि ने भी मलबारी के इस

सुधार-संबन्धी जोश की निन्दा की।

तैलंग के भाषण की समालोचना करते हुए तिलक ने मलबारी की खिल्ली उड़ाते हुए लिखा कि पारसी समाज में भी कई सुधार होने की गुंजाइश है। उनकी ही ओर वह (मलबारी) ध्यान दें तो अधिक उचित होगा। नाहक परोपकार का घोड़ा बनाकर उस पर सवार होने से क्या लाभ ?

यहां यह बताना अनुपयुक्त न होगा कि राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के समय उसके सामने भी यह सवाल आया था कि राजनैतिक और सामाजिक प्रश्नों में किसे प्राथमिकता दी जाय, और उसका कार्यक्षेत्र क्या हो ? पहले अधिवेशन में काफी वाद-विवाद के बाद यही तय किया गया कि कांग्रेस की गतिविधियां राजनैतिक क्षेत्र तक ही सीमित रहनी चाहिए। बाद में काफी समयतक इस संस्था की यही नीति रही। यहांतक कि १९१३ में जब श्रीमती एनीबेसेंट ने अपनी "दि ब्रदर्स ऑफ सर्विस" नामक संस्था का कांग्रेस के साथ सम्बन्ध कराने के लिए प्रार्थना की, तो इसी आधार पर उनकी प्रार्थना अस्वीकार कर दी गई।

लोकमत के प्रतिकूल होने के कारण बाल-विवाह-निरोधक कानून बनाने का विचार सरकार ने कम-से-कम उस समय के लिए छोड़ दिया। इस तरह से यह तिलक जैसे लोगों के उस पक्ष की, जो यह कहते थे कि राजनैतिक सुधारों को सामाजिक सुधारों की अपेक्षा प्राथमिकता दी जानी चाहिए, बड़ी भारी जीत थी।

: १३ :

सुधारों का सवाल—२

समाज-सुधार-सम्बन्धी कानून बनवाने के पहले प्रयास में असफलता पाकर मलबारी हताश नहीं हुए। उन्होंने इस दिशा में अपना प्रयत्न जारी रखा। उन्होंने यह अनुभव किया कि भारत की अपेक्षा इंगलैण्ड जाकर वह अधिक सफल हो सकेंगे। अतः अपने कार्य को और अधिक तेज़ी के साथ करने के विचार से सन् १८९० में वह इंगलैण्ड चले गए और वहां

उन्होंने समाज-सुधार कानून सम्बन्धी एक मसविदा प्रकाशित किया।

मलबारी के मसविदे की मुख्य बात यह थी कि उसके द्वारा विवाह के पक्षों में स्त्री की स्थिति बदल जाती थी। उसके अनुसार यद्यपि बाल-विवाह तो हो सकता था, पर पति बारह वर्ष से कम आयु की पत्नी के साथ वैवाहिक-संभोग नहीं कर सकता था। मसविदे में ऐसी स्त्री के साथ उसकी सम्मति से किये गए संभोग को बलात्कार के तुल्य माना गया था, और ऐसा करनेवाले पति के लिए दंड की मांग की गई थी। दूसरे शब्दों में, इस मसविदे में यह माना गया था कि बारह वर्ष से कम आयु की स्त्री सम्भोग की सम्मति देने योग्य नहीं है। उसमें मांग की गई थी कि सम्मति-आयु ऊंची की जाय।

मलबारी के मसविदे का रानडे आदि सुधारकों ने समर्थन किया। इसी अरसे में एक ऐसी घटना हुई जिसने इसके पक्ष में लोकमत की आवाज़ और प्रबल हो गई। अगस्त १८९० में बंगाल में हरिमोहन नामक तीस वर्षीय आदमी ने फुलमणी नाम की अपनी नाबालिग पत्नी पर बलात्कार किया जिससे वह मर गई। हरिमोहन पर फौजदारी मुकदमा दायर किया गया। सम्मति-आयु बढ़ाने की मांग करनेवाले सुधारकों के लिए यह घटना अनायास ही एक अच्छा निमित्त बन गई। घटना के कुछ ही दिन बाद बंबई के सुधारकों ने मलबारी के मसविदे के अनुसार सम्मति-आयु सम्बन्धी कानून बनाने के लिए सरकार से निवेदन किया।

सरकार का झुकाव भी ऐसा कानून बनाने की ओर था। इससे सनातनी लोगों में बड़ी खलबली मच गई। उन्होंने जगह-जगह सभाएं करके अपना विरोध प्रकट किया। २६ अक्तूबर १८९० को पूना में भी ऐसी एक सभा का आयोजन किया गया। इस सभा का उद्देश्य सरकार से यह निवेदन करना था कि वह इस प्रकार के सुधारक कानून न बनाये। तिलक, रा० भि० जोशी, देवधर आदि लोगों ने सभा के आमंत्रकों से निवेदन किया कि जो लोग कानून नहीं चाहते, उनकी राय तो आप सरकार के पास भेजेंगे ही, किन्तु अगर कुछ लोग कोई खास सुधार चाहते हों, और उन्हें सभा के २०० व्यक्तियों का समर्थन मिल जाय कि सुधार की मांग करनेवाला व्यक्ति यदि स्वयं उसके अनु-

सार न चले, तो उसके लिए दंड की व्यवस्था हो, तो इस राय को भी हमारी ओर से प्रस्ताव के रूप में सरकार के पास भेजने का प्रबंध किया जाय। तिलक आदि ने जिन सुधारों की मांग की थी, वे बाल-विवाह पर प्रतिबन्ध, मध-निषेध, दहेज-निषेध, आदि से सम्बन्धित थे।

इस सभा में रानडे, भांडारकर आदि सुधारवादी भी मौजूद थे। सभा में अपने सुधारों के बारे में तिलक ने कहा, "मेरा खास मुद्दा यह है कि जो भी सुधार करना हो, उसका पहले उसके समर्थकों को अपने जीवन में पालन करना चाहिए। सुधारकों के लिए यह ज़रूरी है कि पहले वे स्वयं इन सुधारों को अपनायें, और फिर उनका प्रचार करें।"

जहांतक इन सुधार-सम्बन्धी प्रस्तावों का सवाल है, उनका कोई खास नतीजा नहीं निकला। पर इस उद्देश्य से, कि लोग उनका पालन अपने-आप स्वेच्छा से करने लगें, एक प्रतिज्ञा-पत्र तैयार किया गया। इस पत्र पर लोगों के हस्ताक्षर लेने का काम भी शुरू किया गया। प्रतिज्ञा पत्र यह था—

"हम नीचे हस्ताक्षर करनेवाले प्रतिज्ञा करते हैं कि हम—

१. अपनी कन्या का विवाह १४ वर्ष की आयु से पहले नहीं करेंगे।

२. इसी प्रकार अपने लड़के का विवाह २० वर्ष की अवस्था के पहले नहीं करेंगे।

३. यदि हमें फिर से विवाह करना पड़ा तो हम १६ वर्ष से कम आयु की कन्या के साथ विवाह नहीं करेंगे।

४. विवाह के समय हम दहेज न तो लेंगे और न देंगे।

५. शराब नहीं पियेंगे।

६. ३० वर्ष से कम आयु की विधवा का केश-वपन नहीं करने देंगे।

७. हम—यह प्रतिज्ञा करनेवाले—अपनी आमदनी का २० वां भाग इस पत्र पर हस्ताक्षर करानेवाले मण्डल के काम के लिए देंगे।

यह प्रतिज्ञा हमने सत्य को साक्षी रखकर की है। उसके अनुसार आचरण करने में अगर हम भूल करें, तो मंडल के नियमा-

नुसार जो निर्णय होगा, हम उसे स्वीकार करेंगे और वह जो सज़ा देगा उसे सहन करेंगे।"

दूसरी ओर इस कानून के समर्थन में भी जगह-जगह पर सभाएं हो रही थीं। आखिर सम्मति-आयु का विधेयक ६ जनवरी १८६१ के दिन केन्द्रीय विधान सभा में पेश कर ही दिया गया। इससे झगड़ा और अधिक बढ़ गया। अनुकूल-प्रतिकूल मत रखनेवालों की सभाएं स्थान-स्थान पर होने लगीं। इस विधेयक का विरोध करनेवालों में तिलक, खापर्डे, व्यो० चं० बनर्जी, टी० माधवराव, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी आदि थे। रानडे, भांडारकर, तैलंग आदि उसके पक्ष में थे। सम्मति-आयु का कानून शास्त्र-संगत है, यह सिद्ध करने के लिए भांडारकर ने खूब परिश्रम किया। तिलक ने उनपर प्रतिकूल तर्कों की बौछार कर दी और उनकी बड़ी कड़ी आलोचना की।

यद्यपि तिलक विधेयक में वर्णित सुधार के पक्ष में थे, पर उनका कहना यह था कि इस कानून द्वारा विदेशी सरकार हिन्दुओं के सामाजिक और धार्मिक आचारों में दखल देती है, और सरकार का यह आचरण साम्राज्ञी की घोषणा[1] से संगत नहीं है। यह विवाद इतना कटु होगया कि इसमें हाथापाई और मारपीट के अवसर तक आ गए और तैलंग, भांडारकर आदि विद्वानों को बेइज्जती भी सहनी पड़ी।

१६ मार्च १८६१ के दिन लोकमत के विरोध के बावजूद कानून-मंत्री स्कोबल ने विधान-सभा में यह घोषणा की कि "अगर एक बार प्रो० तिलक और पं० शशधर का पक्ष सही भी हो तो भी हम उसके साथ न रहकर प्रो० भांडारकर, न्यायमूर्त्ति तैलंग आदि का साथ देंगे, चाहे उनका पक्ष एक बार गलत भी क्यों न हो।"

---

१. **साम्राज्ञी की घोषणा**—१८५७ की क्रान्ति के पश्चात् भारत ब्रिटिश ताज के प्रत्यक्ष शासन में आगया। इस अवसर पर महारानी विक्टोरिया ने एक घोषणा की थी जिसमें उन्होंने भारतवासियों को यह आश्वासन दिया था कि उनके धार्मिक तथा सामाजिक आचारों में सरकारी हस्तक्षेप नहीं किया जायगा। तिलक का इशारा इसी ओर था।

इसी दिन यह कानून पास भी होगया। सुधार-विरोधी लोग इससे और भी बिगड़ गए और उन्होंने कई तरह से अपना रोष प्रकट किया। उन्होंने सुधारकों का एक जनाज़ा तक निकाला और इस प्रकार अपना विरोध प्रकट किया।

: १४ :

पंडिता रमाबाई तथा शारदा-सदन

सम्मति-आयु के कानून का तूफान अभी शान्त हुआ नहीं था कि समाज-सुधार से सम्बन्ध रखनेवाली एक दूसरी एक घटना घटी। यह घटना पंडिता रमाबाई और उनके शारदा-सदन की थी। पंडिता रमाबाई के जीवन के दो पहलू थे। एक दृष्टि से वह वीरता की रोमांचकारी गाथा है, और दूसरी दृष्टि से—खासकर हिन्दू-धर्म और संस्कृति की दृष्टि से—वह एक अत्यन्त करुण कहानी है।

रमाबाई के पिता अनन्त शास्त्री डोंगरे, बाजीराव के गुरू रामचन्द्र शास्त्री साठे के पास अध्ययन करते थे। वहां बाजीराव की पत्नी वाराणसीबाई को शुद्ध और मधुर उच्चारण के साथ संस्कृत-श्लोक बोलते देखकर वह बड़े प्रभावित हुए और उन्होंने अपनी पत्नी को भी संस्कृत पढ़ाने का निश्चय किया। घर पहुंचकर उन्होंने यह कार्य शुरू भी कर दिया। लेकिन कुछ काल के बाद उनकी पत्नी की मृत्यु हो गई और उन्होंने दूसरा विवाह कर लिया। अपनी दूसरी पत्नी को भी उन्होंने संस्कृत पढ़ाई। समाज की नुक्ताचीनी से होनेवाली परेशानी से बचने के लिए उन्होंने जंगल में एक झोपड़ी बना ली और वहां पर वह एक गुरुकुल-सा चलाने लगे। यहीं सन् १८५८ में रमाबाई का जन्म हुआ। रमाबाई ने भी संस्कृत का अच्छा अध्ययन किया। माता-पिता दोनों की मृत्यु हो जाने के बाद रमाबाई अपने भाई श्रीनिवास के साथ घूमते-घूमते कलकत्ता पहुंच गईं और अपने संस्कृत-ज्ञान से गुजारा करने लगीं। रमाबाई की युवावस्था, प्रभावशाली भाषण और संस्कृत के गहरे ज्ञान से प्रभावित होकर वहांकी स्त्रियों ने उनका बड़ा सम्मान किया।

दुर्भाग्य से इसी अरसे में (मई १८८०) उनके भाई श्रीनिवास का भी देहांत हो गया।

इसके बाद वह आसाम चली गईं और उन्होंने वहांके एक वकील श्री विपिनविहारी मेंधावी के साथ विवाह कर लिया। किन्तु दुर्भाग्य ने तो मानो उनका पीछा ही पकड़ रखा था। विवाह के डेढ़ वर्ष बाद ही मेंधावी का देहांत हो गया और रमाबाई विधवा हो गईं। उस समय वह गर्भवती थीं। कुछ समय बाद उन्होंने एक कन्या को जन्म दिया जिसका नाम मनोरमा रखा गया।

रमाबाई अब लौटकर पूना आ गईं; और वहां रानडे, भांडारकर आदि के साथ स्त्रियों में कार्य करने लगी। १८८२ में उन्होंने 'आर्य-महिला-समाज' की स्थापना की और शिक्षा-सम्बन्धी जाँच के लिए नियुक्त हंटर-आयोग के सामने उन्होंने गवाही भी दी। रमाबाई की गवाही से हंटर साहब बड़े प्रभावित हुए। महारानी विक्टोरिया ने भी उस गवाही को पढ़ा और उसके परिणामस्वरूप स्त्री-कल्याण के लिए लेडी-डफरिन-फंड, जनाना अस्पताल आदि जैसे कई कार्य शुरू किये गए।

पूना आने के बाद रमाबाई ने अंग्रेजी का अध्ययन भी आरम्भ कर दिया। इससे उनका वहांके ईसाई समाज के साथ काफी सम्बन्ध हो गया और ईसाई धर्म के प्रति उनमें काफी रुचि पैदा हो गई। इधर अपने कार्य में पूना के लोगों का यथेष्ट सहयोग न मिलने से वह बड़ी असन्तुष्ट हो गईं और अपनी लड़की मनोरमा के साथ इंगलैण्ड चली गईं। वहां उन्होंने चैल्टनहम कॉलेज में संस्कृत पढ़ाना शुरू कर दिया। बाद में वह वहीं पर अपनी लड़की सहित ईसाई धर्म में दीक्षित हो गईं। इंगलैण्ड से रमाबाई अमरीका गईं और वहां की मिशनरी संस्थाओं से मदद लेकर भारत लौट आईं। भारत आने के बाद ११ मार्च १८८९ से उन्होंने बंबई में निराश्रित विधवाओं और अन्य स्त्रियों के लिए 'शारदा-सदन' नामक संस्था शुरू की। इस संस्था के सलाहकार-मण्डल में रानडे, भांडारकर आदि लोग भी थे।

रमाबाई के धर्म-परिवर्तन से एक विकट परिस्थिति पैदा हो गई। रूढ़िवादियों की दृष्टि में वह एक 'भ्रष्टा' ईसाई स्त्री हो गई थीं। प्रश्न

यह उठा कि ऐसी स्त्री की देख-रेख में हिन्दू स्त्रियों को कैसे शिक्षा दी जाय ? यह सवाल उठानेवालों में तिलक भी एक थे। इसी बीच २१ दिसम्बर १८८९ के "इलस्ट्रेटेड क्रिश्चियन-वीकली" नामक न्यूयार्क के एक अखबार में यह समाचार प्रकाशित हुआ कि बंबई के शारदा-सदन में इस समय सात बाल-विधवाएं हैं, उनमें से दो ईसाई-धर्म के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करके रमाबाई की प्रार्थना में शामिल होती हैं। एक दूसरी विधवा एक ईसाई मिशनरी के पास पढ़ रही है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस संस्था में पूरा मत-स्वातन्त्र्य है और वह किसी भी प्रकार से हानिकारक (मिशनरियों की दृष्टि से) नहीं है।

तिलक ने यह समाचार तुरन्त 'केसरी' में प्रकाशित कर दिया। पर आश्रम के सलाहकार-मण्डल के सदस्यों पर इसका कोई खास प्रभाव नहीं पड़ा। यही नहीं, उन्होंने यहांतक कहा कि रमाबाई चाहे ईसाई हों, पर हमारी स्त्रियों को उनकी निगरानी में जो शिक्षा मिल रही है, वह बड़ी उपयोगी है। साथ ही उन्होंने, जिस संस्था से रमाबाई को आर्थिक सहायता मिलती थी, उसे यह लिखा कि वह रमाबाई को ऐसा निर्देश दे कि वह आश्रम में धार्मिक शिक्षा न दें और वहां शिक्षा पानेवाली स्त्रियों को धर्म-परिवर्तन के लिए प्रलोभित न करें। किन्तु उसने रमाबाई को कोई निर्देश नहीं दिया। इतना ही नहीं, उसने आश्रम-संचालन की तमाम सत्ता रमाबाई को दे दी। अब रमाबाई ने अपने आलोचकों से साफ-साफ कह दिया कि आश्रम में आनेवाली स्त्रियां ईसाई धर्म स्वीकार नहीं करेंगी, ऐसी कोई जिम्मेदारी लेने के लिए वह अब तैयार नहीं हैं। रमाबाई की यह बात सुनकर रानडे, भांडारकर आदि की आँखें एकदम खुल गईं और वे शारदा-सदन के सलाहकार-मण्डल से अलग हो गए। बाद में तो शारदा-सदन खुल्मखुल्ला ईसाई-धर्म के प्रचार का साधन बन गया।

तिलक पर उनके विरोधियों द्वारा यह आक्षेप लगाया जाता है कि वह स्त्री-शिक्षा के विरुद्ध थे। किन्तु बात यह नहीं थी। तिलक का मत यह था कि स्त्री को शिक्षा तो अवश्य दी जानी चाहिए, पर उस शिक्षा से यदि वह अपनी संस्कृति तथा धर्म से विमुख हो जाय, तो उससे समाज का तथा उसका कैसे और क्या उद्धार होगा ? वह कहते थे कि

संवेदनशील और संस्कारग्राही कच्ची आयु के लड़के-लड़कियों को अपने धर्म और संस्कृति से अलग करके, पर-धर्म और पर-संस्कृति के प्रभाव में रखने जैसा कु-शिक्षण और कोई नहीं हो सकता। तिलक ऐसी शिक्षा के एकदम विरुद्ध थे, और इसी कारण उन्होंने रमाबाई के शारदा-सदन की इतनी कड़ी आलोचना और विरोध किया था।

रमाबाई ने आगे चलकर काफी बड़े पैमाने पर धर्म-परिवर्त्तन कराने का कार्य शुरू कर दिया, और इसके लिए उन्होंने भले-बुरे सभी रास्ते अपनाये। इसे देखते हुए तिलक के विरोध को गलत नहीं कहा जा सकता।

: १५ :

चाय के प्याले में तूफान

इसी अरसे में एक और विचित्र घटना घटित हुई। पूना में गोपालराव जोशी एक उदार विचारोंवाले व्यक्ति थे। इन्होंने अपनी पत्नी आनन्दी-बाई को डाक्टरी की उच्च शिक्षा के लिए अमरीका भेजा था। यह देखा जाता है कि कई लोग समाज-सुधार के बारे में बातें तो बहुत करते हैं, पर अवसर आने पर किसी-न-किसी तरह किनारा काट जाते हैं। ऐसे लोगों को कुछ शिक्षा देने के लिए उन्होंने एक आयोजन कराया। ईसाई मिशनरियों के साथ उनका अच्छा सम्बन्ध था। पूना के पंचहौद मिशन के पादरी रिविंगटन द्वारा ४ अक्तूबर १८९० के दिन उन्होंने रानडे, गोखले, तिलक आदि शहर के प्रतिष्ठित नागरिकों को भाषण के लिए निमन्त्रण दिलवाया। भाषण पूरा होने पर मेहमानों की खातिर करने के लिए मेज पर चाय, बिस्कुट आदि रख दिये गए। कुछ लोगों ने दोनों चीजें इस्तेमाल कर लीं, कुछने केवल चाय ही पी और कुछ लोगों ने कुछ भी नहीं लिया। इस मामूली-सी घटना के बाद जोशी ने 'पुणें-वैभव' नामक अखबार में इसकी खबर छपवा दी।

थोड़ दिन तक तो पूना के ब्राह्मण चुप रहे। पर १८९१ के अन्त में 'ब्राह्मण-रक्षक मंडल' के नेताओं ने मिशन में चाय पीनेवालों के साथ सम्बन्ध रखनेवाले उपाध्यायों, रसोइयों आदि का बहिष्कार शुरू कर दिया। बाद में उस समारोह में भाग लेनेवाले लोगों के रिश्तेदारों का भी बहिष्कार शुरू हुआ। इससे उनके परिवारों की स्त्रियां आदि भी परेशान होने लगीं।

कुछ कट्टर सनातनियों ने इन भ्रष्ट हुए लोगों के विरुद्ध शंकराचार्य के आगे फरियाद की। शंकराचार्य ने जांच व न्याय के लिए एक आयोग नियुक्त किया। अभियुक्तों में से कुछ शंकराचार्य का अधिक्षेत्र मानने को तैयार नहीं थे। रानडे, तिलक आदि ने उनके अधिकार को मान्यता दी। आयोग ने सभीको भिन्न-भिन्न प्रायश्चित्त करने तथा व्रत रखने की सजा दी।

किन्तु इस निर्णय से मामला और बिगड़ गया। शहर के ब्राह्मणों के शुक्ल व कृष्ण—दो पक्ष हो गए। कुछ बहिष्कृत लोगों के लिए जनेऊ, विवाह आदि धार्मिक समारोहों के समय पुरोहित मिलना भी कठिन हो गया। कहीं तो विवाहित कन्याओं को ससुराल के लोगों ने अपने यहां ले जाने तक से इन्कार कर दिया और कहीं ससुराल के लोगों ने अपनी वधुओं को पीहर भेजने से इन्कार कर दिया। कहीं पिता-पुत्र के बीच भी झगड़े शुरू हो गए। रानडे को प्रायश्चित्त करना मंजूर न था। बहिष्कार की वजह से उनको भी कुछ कम असुविधा न सहनी पड़ती थी। किन्तु मित्रों के कुटुंबों में शांति स्थापित करने के लिए रानडे को उन्हें प्रायश्चित्त करने की सलाह देनी पड़ी, और आगे चलकर स्वयं उन्हें भी प्रायश्चित्त करना पड़ा। तिलक ने ऐसा प्रकट किया कि वह बनारस गए थे और वहीं पर उन्होंने प्रायश्चित्त भी कर लिया था।

चाय के प्याले से उठा यह तूफान इस तरह से धीरे-धीरे खत्म होगया। इस घटना से उस ज़माने के सुधारकों तथा हिन्दू-धर्म के संरक्षक कहलानेवाले लोगों की मान्यताएं कैसी विचित्र थीं, इस पर प्रकाश पड़ता है। आज तो इस तरह की सभी बातें बड़ी हास्यास्पद प्रतीत होती हैं।

लेकिन इन घटनाओं से यदि यह मान लिया जाय कि तिलक समाज-सुधार के विरोधी थे, तो यह एक बड़ी भूल होगी। वास्तव में बात उल्टी है। तिलक सुधारों के समर्थक थे, पर उनका कहना यह था कि सुधारों की भावना लोगों में अपने-आप पैदा होनी चाहिए। यही नहीं, वह सामाजिक परिषद् की बैठकों में, और उसके कार्य में भी, भाग लिया करते थे।

पहली बार तिलक ने १८८९ में सामाजिक परिषद के तीसरे अधिवेशन में भाग लिया था। इसी सम्मेलन में यह निश्चय किया गया था कि समाज-सुधार के लिए कानून की सहायता नहीं ली जानी चाहिए। इस सम्मेलन में एक प्रस्ताव इसके विरुद्ध पेश भी किया गया था, जिसका तिलक ने डटकर विरोध किया था।

सामाजिक परिषद् का चौथा अधिवेशन सन् १८९० में कलकत्ता में हुआ। इस अधिवेशन में बाल-विवाह के विरुद्ध तथा प्रौढ़-विवाह के समर्थन में एक प्रस्ताव रखा गया। इस प्रस्ताव का अनुमोदन तिलक ने किया या।

उसके बाद परिषद् के नागपुर-अधिवेशन में विधवा-पुनर्विवाह की हिमायत करनेवाले प्रस्ताव का भी उन्होंने समर्थन किया। अपने भाषण में उन्होंने कहा कि केवल शाब्दिक—मौखिक—सहानुभूति से काम नहीं चलेगा। विधवा-पुनर्विवाह के साथ जिन्हें सहानुभूति दिखानी है, उनके लिए यह जरूरी है कि वे केवल विवाह-विधि के अवसर पर हाज़िर रहना ही पर्याप्त न समझकर उसके भोजन-समारम्भ में भी शरीक हों।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तिलक सुधारों के विरोधी नहीं, समर्थक थे। वह उन लोगों के विरोधी थे जो सुधारों का मौखिक समर्थन कर चुप हो जाते हैं। लेकिन तिलक को यह बिल्कुल स्वीकार न था कि सामाजिक परिषद् अपने प्रस्तावों को अमल में लाने के लिए कानून की मदद लेने का प्रयत्न करे। समाज सुधारों के बारे में तिलक का सबसे बड़ा आक्षेप यह था कि उनके समर्थकों में सच्चाई और साहस दोनों का अभाव है। ठोस कार्य करने की जगह वे बातें ही अधिक करते हैं। उनका कहना

था कि अपने रीति-रिवाजों और रूढ़ियों की निन्दा करनेवाले लोग हिन्दुस्तान के सिवाय और कहीं शायद ही पाये जायंगे। हिन्दुस्तान में जाति, धर्म और संप्रदायों की इतनी विविधता है कि उन सबके लिए एक ही सामाजिक कानून बनाना मुश्किल है। उनको अपने-अपने रीति-रिवाजों के अनुसार चलने देना ही उचित है। कानून का छोटा रास्ता लेना समाज पर अत्याचार करने जैसा है।

तिलक चाहते थे कि सामाजिक सुधार सामाज के विकास की आंतरिक प्रक्रिया का परिणाम हो और वह समाज के विकास का निर्देशक होना चाहिए। सुधार का कार्य लोक-शिक्षा के द्वारा ही किया जाना चाहिए। समाज-सुधारकों को सरकार की ओर देखने की जगह जनता-जनार्दन की ओर देखना चाहिए, यही अधिक ज़रूरी और इष्ट है। लोगों के मन में अपने सामाजिक जीवन और संस्थाओं के लिए जो अभिमान है, उसे सुधारकों को दबाना नहीं चाहिए। वह कहते थे कि हमारी कमियों की ओर ध्यान दिलानेवाली चीजें सर्वत्र बिखरी पड़ी हैं। अगर हमें आज किसी चीज़ की सबसे ज़्यादा ज़रूरत है, तो वह आत्म-विश्वास की है, और जो सुधार हमारी अपनी शक्ति की अपेक्षा हमारी त्रुटियों की ओर ज्यादा ध्यान दिलाते हों, वे इस दृष्टि से अनिष्ट ही नहीं, एकदम हानिकारक भी हैं, क्योंकि वे हमारे स्वाभिमान को नहीं जागने देते।

तिलक का कहना था कि राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) जिसकी स्थापना १८८५ में हो चुकी थी, को भी समाज-सुधार के बारे में यही दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। १६ दिसम्बर १९१९ के 'केसरी' में इस सम्बन्ध में तिलक ने लिखा था, "स्वाभिमान, उत्साह और स्वराज्य-निष्ठा, यही राष्ट्र का प्राण है, और इतिहास हमें बतलाता है कि जहां यह प्राण होता है, वहां सुई के पीछे धागे की तरह सामाजिक सुधार इस प्राण के पीछे-पीछे चला आता है। इसीलिए राष्ट्रीय-कांग्रेस राजनैतिक आन्दोलन को जितना महत्त्व देती है, उतना सामाजिक आन्दोलन को नहीं देती। उसका यह कहना हरगिज़ नहीं है कि समाजिक सुधार तथा प्रगति आवश्यक नहीं हैं, किन्तु यह प्रगति राजनैतिक प्रगति व स्वाभिमान के सहारे ही होनी चाहिए।"

: १६ :

बापट पर अभियोग

मित्र-प्रेम के वश होकर और अपने मित्रों के प्रति कर्त्तव्य निबाहने के लिए लोकमान्य तिलक ने अपने जीवन में बहुतेरे कष्ट उठाये और समय भी लगाया। ऐसा ही एक प्रसंग यह है।

वासुदेव सदाशिव बापट वास्तव में रत्नागिरी के निवासी थे। घर की गरीबी के कारण वह कॉलेज की शिक्षा पूरी नहीं कर पाये। वैसे वह तिलक के सहपाठी थे। बाद में भी उनकी मित्रता बनी रही। बड़ौदा के रेवेन्यु सर्वे सेटलमेण्ट के सर्वोच्च अधिकारी श्री इलियट का बापट से पहले ही परिचय हो चुका था। बापट की बुद्धिमत्ता और कार्य-कुशलता से इलियट बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने उन्हें अपने विभाग में नौकरी दे दी। कुछ ही दिनों में बापट उन्नति करते-करते असिस्टेण्ट कमिश्नर के पद तक जा पहुंचे।

बड़ौदा जाने के बाद भी बापट का तिलक के साथ पुराना सम्बन्ध बना रहा। 'केसरी' में बड़ौदा के दीवन सर टी० माधवराव के बारे में जो टीका-टिप्पणी हुई थी, वह बापट द्वारा दी गई जान-कारी पर ही आधारित थी।

लेकिन कुछ समय के बाद बापट पर एकाएक एक बड़ी आफत आ पड़ी। हुआ यह कि बड़ौदा में सर्वे सेटलमेण्ट (पैमाइशी बंदोबस्त) का काम नियमित रूप से सयाजीराव के गद्दी पर बैठने के बाद ही शुरू हुआ था। पैमाइश के साथ-साथ जमींदारों की मिल्कियतों और सनदों की जांच भी शुरू हुई। अपने अधिकारों का संरक्षण करने के लिए जमींदारों ने प्रार्थना-पत्र देना शुरू किया। १८८९ और १८९२ के बीच लगभग नौ-हजार प्रार्थना-पत्र इलियट के पास पहुंचे। इनका फैसला भी होगया। इसके अतिरिक्त खुद महाराज, दीवान, और रेसिडेण्ट के पास भी कई प्रार्थना-पत्र भेजे गए।

बंदोबस्त की सीधी जिम्मेदारी अपने पद के कारण बापट पर थी। उनके विरोधियों की ओर से उन पर व्यवहार-विषयक कई आरोप लगाये गए। पर उनके विरुद्ध कोई सबूत न होने के कारण उनके विरुद्ध कोई कार्रवाई नहीं की गई। यही नहीं, उनके विभाग के कई कर्मचारियों को स्वयं सयाजीराव के हाथों से पुरस्कार दिलवाये गए। लेकिन विरोधियों ने बापट तथा इलियट, दोनों को नीचे गिराने की अपनी कोशिशें जारी रखीं।

१८९४ में सयाजीराव और इलियट दोनों इंगलैंड गए हुए थे। उनकी अनुपस्थिति में दीवान, रेसिडेण्ट और इलियट के स्थान पर आये हुए मि० मेकेनकी—इन तीनों ने मिलकर बापट के विरुद्ध अर्ज़ियां लेना शुरू किया और उनके आधार पर बापट पर रिश्वत लेने का दोषारोपण करके मुकदमा चलाने का निश्चय किया। इसके लिए सबूत इकट्ठे करने के लिए मेकेनकी ने भले-बुरे सभी उपाय इस्तेमाल किये।

यह देखकर बापट उलझन में पड़ गए और घबरा भी गए। सहायता तथा सलाह के लिए उन्होंने तिलक को पत्र लिखा। तिलक ने उनकी सहायता के लिए वासुदेवराव जोशी को बड़ौदा भेजा। जोशी को डर था कि कहीं दीवान आदि बापट को गिरफ्तार करके जेल में न डाल दें। अतः उन्होंने निश्चय किया कि वह बापट को अपने साथ ले जायंगे। पर बापट पर बड़ी कड़ी निगरानी थी। इसलिए उनका बड़ौदा से जाना आसान नहीं था। जोशी नें इसका एक रास्ता निकाला। बापट जोशी को बिदा करने के लिए स्टेशन गए। गाड़ी चलते ही जोशी ने बापट को डब्बे में खींच लिया। बड़ौदा की खुफिया-पुलिस धोखा खाकर देखती ही रह गई। रास्ते में सूरत से बापट ने दीवान को तार भेजा कि बीमारी के कारण वह एकाएक बंबई जा रहे हैं।

किन्तु बड़ौदा से भाग जाने से ही तो बापट की मुसीबत खत्म नहीं हो जाती थी। उल्टे इससे उनके बारे में शक बढ़ ही गया। ३० जनवरी १८९४ के दिन उनको मुअत्तिल (सस्पेण्ड) करने का हुक्म निकाल दिया गया। छह महीने के बाद, १३ अगस्त को, उनके विषय में जांच करने के

लिए एक आयोग नियुक्त हुआ। अब बापट का बड़ौदा से बाहर रहना उचित नहीं था। अतः वह बड़ौदा लौटकर आयोग के सामने हाज़िर हो गए। बापट की ओर से महादेव चिमणाजी आप्टे और बाद में, उनकी मृत्यु हो जाने के बाद, दाजी आबाजी खरे ने पैरवी की। फिर भी वकील का बहुत-सा काम और उसके क्लर्क का आधे से ज्यादा काम तिलक को ही करना पड़ा। आयोग का काम चार महीने तक चला। इस अरसे में वह इतने व्यस्त रहे कि उनके अखबारों और कानून की कक्षाओं की कामचलाऊ व्यवस्था ही की जा सकी। इस कारण ये दोनों काम किसी तरह से चलते ही रहे। अखबारों के लिए लेख लिखने की फ़ुरसत भी तिलक को मुश्किल से मिलती थी। सुबह का सारा समय दोपहर के काम की व्यवस्था में चला जाता था, और शाम को घर आने के बाद कचहरी में हुए काम की चर्चा में समय निकल जाता था। बापट के मामले में तिलक इतने व्यस्त रहे कि वह इस वर्ष के मद्रास कांग्रेस-अधिवेशन में भी शामिल नहीं हो सके।

सरकार की ओर से पेश किये गए गवाहों की जिरह में भी तिलक वकील को सहायता देते थे। इस सारे काम में वह काफी सफल रहे और कई गवाह झूठे सिद्ध हुए।

बापट के विरुद्ध लगाये गए बारह आरोपों में से आयोग ने तीन आरोप सही माने। यद्यपि आयोग को सज़ा देने का अधिकार नहीं था, लेकिन फिर भी उसने बापट को छह महीने की कैद और दस हजार रुपये जुर्माने की सज़ा सुनाई। लेकिन सज़ा देने के सबसे बड़े अधिकारी स्वयं महाराज ही थे। इसलिए उनके वापस आने पर बापट का मामला उनके सामने पेश किया गया। महाराज ने हाईकोर्ट के न्यायाधीश, दीवान और दो अन्य वकीलों की एक समिति द्वारा आयोग के निर्णय की फिर से छान-बीन करवाई। समिति की राय में बापट निर्दोष साबित हुए और उन्हें दोष-मुक्त कर दिया गया। लेकिन उन्हें फिर नौकरी पर न रखकर उनके लिए सवासौ रुपये मासिक पेन्शन निश्चित कर दी गई। बापट बड़ौदा छोड़कर पूना चले गए। वहीं १९१५ में उनकी मृत्यु हो गई। उनकी मृत्यु के बाद तिलक ने उनके छोटे पुत्र की पढ़ाई के लिए

सयाजीराव से छात्रवृत्ति भी दिलवाई। इस मामले से तिलक का सयाजी-राव के साथ काफी परिचय हो गया।

: १७ :

साम्प्रदायिक दंगे

१८९३-९४ में बंबई प्रेसीडेंसी में बड़े पैमाने पर हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए। अन्य नेताओं की तरह तिलक का भी उनके बारे में चिन्तित होना स्वाभाविक था। खुद तिलक का उनके बारे में क्या दृष्टिकोण था, यह समझने के लिए इन दंगों की पृष्ठभूमि जानना जरूरी है।

साम्प्रदायिक दंगे—विशेषकर हिंदू-मुस्लिम दंगे—ब्रिटिश शासन-नीति के कारण हिन्दुस्तान की राजनीति का एक खास लक्षण रहे हैं।

१८५७ के सिपाही-विद्रोह के बाद अंग्रेजी राज्य देश में अच्छी तरह जम गया। देश में अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार के लिए कई स्कूल खोले गए। स्कूलों में भरती होनेवालों में अधिकतर हिन्दू ही थे। इससे सरकारी नौक-रियों में उन्हें जल्दी प्रवेश मिल गया। मुसलमान धर्म के बारे में अधिक कट्टर थे। अतः अंग्रेजी शिक्षा के प्रति उनका रवैया उदासीनता का, और किसी हदतक विरोध का भी था। अतः सरकारी नौकरियों तथा इसी प्रकार के अन्य कार्यों में उन्हें कोई खास स्थान प्राप्त नहीं हुए। साथ ही विद्रोह में मुसलमानों के अधिक सक्रिय तथा महत्त्वपूर्ण भाग के कारण सरकार उनसे नाराज़ भी अधिक थी और उन पर शंका भी करती थी। सेना में भी उन्हें कम अवसर प्राप्त होते थे। इस प्रकार विद्रोह के बाद मुसलमानों की स्थिति हिन्दुओं की अपेक्षा कहीं खराब थी।

१८८५ में राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई। कांग्रेस के उदय के साथ-साथ देश में राजनैतिक चेतना भी फैलने लगी। तभी से अंग्रेजों ने पिछड़े हुए मुसलमानों को इस चेतना से अलग रखकर अपनी राजनीति का एक साधन बनाने के प्रयत्न शुरू किये। इसके लिए उन्होंने पढ़े-लिखे मुसलमानोंकी सहायता लेनेकी कोशिश की। उन्हींकी प्रेरणासे सर सैयद अहमद खां ने मुसलमानों को कांग्रेस से अलग रहने का उपदेश किया।

इसी समय सर सैयद के प्रयत्नों से अलीगढ़ के मुस्लिम विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। इसकी स्थापना में थियोडोर बेक नामक अंग्रेज का भी काफ़ी भाग था। थियोडोर बेक तथा सर सैयद ने मिलकर कांग्रेस की स्थापना के थोड़े समय बाद ही, १८८७ में, 'युनाइटेड इण्डियन पेट्रियोटिक एसोसियेशन' नामक राजनैतिक संस्था बनाई। इस संस्था का मुख्य कार्य कांग्रेस को राजद्रोही संस्था बताकर उसका विरोध करना था। सामयिक प्रश्नों पर इस संस्था का दृष्टिकोण कमिश्नर क्रॉफर्ड के मामले के सम्बन्ध में संस्था के मुखपत्र में प्रकाशित लेख से मालूम हो जाता है। इसमें लेखक ने लिखा था, "क्रॉफर्ड को गालियां देनेवाले सौ कांग्रेसवालों से क्रॉफर्ड जैसा एक बुद्धिमान और होशियार आदमी कहीं ज्यादा श्रेष्ठ है।"

१८९२ में कांग्रेस के आन्दोलन के फलस्वरूप इण्डियन-कौंसिल्स-एक्ट पास हुआ। इसके अन्तर्गत कुछ हिन्दुस्तानियों को भी कौंसिलों (विधान-परिषदों) में स्थान मिलने लगा। कुछ दिन बाद ब्रिटिश पार्लमिण्ट में एक और प्रस्ताव स्वीकृत हुआ जिसके अन्तर्गत आई० सी० एस० की परीक्षा भारत में भी लेने की व्यवस्था की गई। मुसलमानों को यह डर लगा (शायद इस बात का प्रचार भी किया गया) कि इन दोनों बातों से हिन्दुओं को अधिक लाभ होगा। इससे दोनों जातियों में कई जगह पर बड़ा तनाव उत्पन्न हो गया। ऐसी ही परिस्थिति में १८९३ में जूनागढ़ राज्य के प्रभास-पट्टन में मुहर्रम के दिनों में एक बड़ा हिन्दु-मुस्लिम दंगा हो गया। इस दंगे में हिन्दुओं के मन्दिर भ्रष्ट किये गए और उन की मूर्त्तियां भी तोड़ी गईं। साधु-सन्तों और यात्रियों के शरीर पर तेल डालकर उन्हें ज़िन्दा जला दिया गया। इस समय राज्य का कारोबार एक ब्रिटिश अफसर के मातहत था।

प्रभास-पट्टन के दंगे से प्रोत्साहित होकर कई शरारती मुसलमान मौलवी हुल्लड़बाज़ी फैलाने के उद्देश्य से बंबई तथा आस-पास के अन्य शहरों में भी पहुंच गए।

सम्भवतः उन्हींके प्रचार के कारण ११ अगस्त १८९३ को बंबई में हिन्दू-मुस्लिम दंगा हुआ। दंगे का कारण यह बताया गया कि 'दिवासा'

त्यौहार के अवसर पर हिन्दुओं ने मस्जिदों से मिले हुए मन्दिरों में बाजे बजाये और इस प्रकार मुसलमानों को क्षुब्ध किया। लेकिन बाद में यह सिद्ध हो गया कि मुसलमानों ने पहले से ही दंगे की पूरी तैयारी कर रखी थी। दंगे के पहले दिन मुसलमानों ने हिन्दुओं पर खूब अत्याचार किये। दूसरे दिन हिन्दुओं ने—खासकर मिलों की बस्तियों में रहनेवाले मराठा मजदूरों ने—भी बदले के लिए लाठी और डंडों का सहारा लिया। दंगे का दमन करनेके लिए पायधूनी पर तोपें लगा दी गईं और बाहर से भी फौज मंगानी पड़ी। दंगे में ६५ आदमी मारे गए, ३५० ज़ख्मी हुए और १२०० गिरफ्तार किये गए। हज़ारों लोग शहर छोड़कर भाग गए। शहर का सारा कारोबार ठप्प हो गया।

दंगे के बाद कुछ दिन तक मुसलमानी महल्लों में होकर अपने काम पर जानेवाले हिन्दू मजदूर सताये जाते थे। इससे उन्होंने काम पर जाना बन्द कर दिया। इससे शहर के उद्योग-धंधों को काफी नुकसान होने लगा। फलतः पुलिस को इस ओर भी ध्यान देना पड़ा। हिन्दू मजदूरों को मुस्लिम इलाकों में पुलिस का संरक्षण प्रदान किया गया। तब जाकर उद्योग-धंधे फिर चालू हुए। तिलक ने हिन्दू मजदूरों की इस हड़ताल का समर्थन किया और सरकार से यह मांग की कि दंगे के वास्तविक कारणों तथा उन्हें रोकने के उपायों की जांच करने के लिए एक आयोग नियुक्त किया जाय।

बंबई के दंगे का असर और भी कई शहरों पर हुआ। पूना, वाई, शोलापुर, बेलगोव, धूलिया, मालेगांव आदि कई स्थानों पर दंगे हुए। पुरानी रूढ़ि के अनुसार जुलूस आदि ले जाने का जहां हिन्दुओं को अधिकार भी था, वहां भी सरकारी अधिकारियों ने उन पर नई-नई शर्त्तें लादना शुरू किया। हिन्दुओं ने उनका पालन किया, लेकिन फिर भी, मुसलमानों ने सरकारी हुक्म को भंग करके मस्जिदों में जमा होकर पत्थर आदि फेंककर हिन्दुओं को परेशान किया। सच तो यह है कि दंगों की शुरूआत मुसलमानों ने ही की थी और ज्यादती भी उन्हींकी अधिक थी। इतने पर भी सरकार ने मुसलमानों के विरुद्ध किसी प्रकार की कार्रवाई नहीं की। उलटे, हिन्दुओं को ही दोषी बताने की कोशिश की। नीचे

दिये उद्धरण इन दंगों पर काफी प्रकाश डालते हैं ।

येवला में मुसलमानों ने डिस्ट्रिक्ट-मजिस्ट्रेट का आदेश भंग किया । इसके विरोध में हिन्दुओं ने बालाजी (हनुमानजी) की पालकी निकालना बंद कर दिया और मुसलमानों के साथ व्यवहार भी तोड़ दिया । इस पर नासिक के कलेक्टर ने वहां के प्रमुख हिन्दू नागरिकों को बुलाकर धमकी दी और मुसलमानों का बहिष्कार बन्द करवाया । हिन्दुओं ने यह देखकर कि जिले में उनकी सुनवाई करनेवाला कोई नहीं है, सरकार को कई तार भेजे । पर कोई नतीजा नहीं निकला । यह कहा गया कि क्योंकि किसी भी तार पर सरकारी अर्जियों पर लगनेवाले टिकिट नहीं लगे हुए थे, अतः उन पर कार्रवाई नहीं की जा सकती । तिलक ने इस बारे में 'केसरी' में लिखा, "तार पर टिकिट लगाकर कैसे भेजा जा सकता है, वह हम तो नहीं जानते । अगर विंटर साहब (नासिक के कलेक्टर) ने तार के द्वारा अदालती टिकिट भेजने की कोई तरकीब खोज निकाली हो, तो उसे वह बताने की कृपा करें ताकि उनका नाम भी एडीसन आदि वैज्ञानिकों की श्रेणी में रखा जा सके !"

फरवरी १८९४ में दंगे फिर हुए । हिन्दू बुनकरों की झोपड़ियां जला दी गईं । हनुमानजी की मूर्त्ति भी तोड़ी गई । अन्त में फौज की सहायता से ही दंगा दबाया जा सका । इस सम्बन्ध में येवला के प्रमुख हिन्दू नेताओं पर सेशन्स अदालत में मुकदमा चला, पर वे सब निर्दोष साबित हुए । सेशन्स जज ने अपने फैसले में यहांतक कहा कि सरकार की ओर से जो सबूत पेश किया गया है, उसके बल पर तो एक कुत्ते को भी सजा नहीं दी जा सकती । फिर भी सरकार ने येवला की जनता को सजा देने के लिए उस पर प्यूनिटिव-पुलिस लाद दी । धूलिया, पूना आदि जगहों पर भी ऐसे ही दंगे हुए ।

तिलक ने इन दंगों के बारे में लिखा, "मुसलमानों के उन्मत्त होने का मुख्य कारण यह है कि सरकार उन्हें सहारा देकर उनके प्रति पक्षपात करती है । अंग्रेज हिन्दुओं से कहते हैं कि आपकी मुसलमानों से रक्षा हमारे यहां रहने के कारण ही हो रही है ।...मुसलमानों को इसीसे प्रोत्साहन मिलता है । इस साम्प्रदायिक दंगे में हिन्दुओं तथा मुसलमानों

के अलावा सरकार का भी एक पक्ष है, और इस तरह यह दंगा एक साम्प्रदायिक-त्रिकोण-सा बन जाता है। वास्तव में अपने-अपने त्यौहार, उत्सव आदि परम्परानुसार मनाने में सरकार को दोनों जातियों की निष्पक्षता से मदद करनी चाहिए। अगर कोई हिन्दू मुसलमानों के महल्ले में जाकर कसाई के घर से गाय को छुड़ाने की कोशिश करे, तो उसके धार्मिक अति उत्साह के लिए उसे सजा दी जानी चाहिए। इसी तरह हिन्दुओं के धार्मिक उत्सवों के अवसर पर बजनेवाले बाजों से चिढ़नेवाले और उनको रोकने की कोशिश करनेवाले मुसलमानों को भी रोकना चाहिए।"

कांग्रेस के पहले दस वर्षों के कार्य का सिंहावलोकन करते हुए तिलक ने साम्प्रदायिक दंगों के वास्तविक कारणों पर भी प्रकाश डाला था। उनका स्पष्ट मत था कि दंगे अंग्रेजों की भेद-नीति के ही परिणामस्वरूप होते हैं। उनका कहना था कि अपना राज्य कायम रखने के लिए अंग्रेजों ने सर सैयद अहमद खां जैसे मुसलमानों की सहायता से इस जाति को राष्ट्रीय आन्दोलन से अलग रखने की कोशिश शुरू की। "पर कोरे आश्वासनों के बल पर वे मुसलमानों को कबतक अलग रख सकते थे? इसलिए उन्होंने भेद-नीति का सहारा लिया, जिसके कारण देश में स्थान-स्थान पर हिन्दू-मुसलमानों के दंगे होने लगे।...कई लोग यह मानते हैं कि अगर १८९३ के जून महीने में सिविल-सर्विस की परीक्षाओं के बारे में पार्लमिण्टमें प्रस्ताव पास न हुआ होता तो शायद अगस्त महीने से हिन्दू-मुसलमानों के दंगे शुरू न होते। हम भी ऐसा नहीं कह सकते कि यह खयाल बिल्कुल बेबुनियाद है।"

: १८ :

दो नये उत्सव

१९ वीं सदी के अन्तिम दिनों में लगभग सभी सार्वजनिक संस्थाओं का क्षेत्र पढ़े-लिखे लोगों तक ही सीमित था। सामान्य जनता की तरफ़ बहुत कम लोगों का ध्यान जाता था। तिलक ने अपनी दृष्टि आम लोगों पर

केन्द्रित की, क्योंकि वह चाहते थे कि साधारण लोग भी देश की राजनीति में दिलचस्पी लें और उनका संगठन बढ़े। इस उद्देश्य को पूरा करने का उन्होंने एक बिल्कुल अनोखा तरीका निकाला। इस कार्य के लिए दो नये उत्सव शुरू किये गए। सबसे पहले सन् १८९४ में गणेश-उत्सव को एक सार्वजनिक स्वरूप दिया गया। इसके बाद १८९५ से शिवाजी-उत्सव नामक एक नया उत्सव भी मनाया जाने लगा।

इस बारे में लिखे गए अपने 'राष्ट्रीय उत्सवों की आवश्यकता' शीर्षक लेख में तिलक ने लिखा, "पुराने जमाने की यात्राएं, मेले आदि देश के धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन के सूचक थे। इन छोटे-बड़े मेलों और उत्सवों को अगर प्रतिष्ठित लोगों का सहारा मिल जाय तो उनसे देश का काफी लाभ हो सकता है। यह काम कांग्रेस के काम जैसा खर्चीला और विकट नहीं है। लेकिन फिर भी जो काम कांग्रेस द्वारा करना सम्भव नहीं है, वह इन उत्सवों द्वारा पढ़े-लिखे आदमी आसानी से कर सकते हैं। हम अपने इन बड़े-बड़े मेलों को विराट सभाओं का रूप क्यों न दें? ऐसा करके हम अपने राजनैतिक आन्दोलन को देहातों तक पहुंचा सकते हैं।...इन मेलों में हम लोगों को यह बता सकते हैं कि हमारे देश की वर्त्तमान दशा कैसी है, उसका क्या कारण है और उसे कैसे उन्नत किया जा सकता है। हम लोगों में धर्म-बुद्धि जाग्रत करके अपनी राष्ट्रीयता को ज़्यादा मजबूत बना सकते हैं।"

गणेश-उत्सव तो पहले भी मनाया जाता था। पर तब वह एक पारिवारिक समारोह ही था। इस अवसर पर लगभग हरेक महाराष्ट्रीय परिवार में गणेश की पूजा की जाती थी। तिलक आदि ने सोचा कि अगर इस उत्सव को एक सार्वजनिक रूप दे दिया जाय, तो यह लोक-शिक्षा का एक अच्छा साधन बन सकता है और उसके द्वारा देश में राजनैतिक चेतना का प्रसार भी हो सकता है।

गणेश-उत्सव को सार्वजनिक रूप में मनाने की शुरूआत पूना में की गई। हर महल्ले में किसी मंदिर या चौराहे पर गणेश की प्रतिमा स्थापित करके उसके चारों ओर रोशनी तथा सजावट की जाती। साथ ही कला-प्रदर्शन भी होता। उत्सव दस दिन तक मनाया जाता और इस

अवधि के बीच गणेश की मूर्त्ति के आगे धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा अन्य विषयों पर भाषण-प्रवचन तथा भजन-कीर्तन आदि होते। साथ ही सामूहिक संगीत, पवाड़े (महाराष्ट्र के वीर-काव्य) आदि का कार्यक्रम भी शुरू हुआ। इस प्रकार गणेश-उत्सव में मनोरंजन के साथ-साथ लोगों को शिक्षा भी मिलने लगी। धीरे-धीरे यह उत्सव महाराष्ट्र के अन्य शहरों, कसबों तथा देहातों में भी फैल गया। उत्सव में जात-पांत, संप्रदाय या छूआछूत का कोई भेद-भाव नहीं रखा जाता था। इस कारण थोड़े ही समय में वह खूब लोकप्रिय हो गया। इस उत्सव द्वारा किसी भी प्रकार की साम्प्रदायिक-भावना फैलाने की कोशिश नहीं की गई थी; यद्यपि कुछ लोगों ने यह झूठा आरोप लगाया था कि उसके पीछे यह भावना विद्यमान थी।

गणेश-उत्सव की भांति शिवाजी-उत्सव शुरू करने का श्रेय भी तिलक को ही देना चाहिए। पहले उत्सव का महत्त्व धार्मिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से था, दूसरे का राष्ट्रीय दृष्टि से। इसके विषय में लिखते हुए तिलक कहते हैं, "जिस प्रकार हम अपने पूर्व-पुरुषों की स्मृति कायम रखकर, उसे अपने कुटुंब की प्रतिष्ठा और ख्याति कायम रखने का साधन बनाते हैं, उसी प्रकार राष्ट्र के महापुरुषों की स्मृति हमारी राष्ट्रीयता बनाये रखने का एक अति उत्तम साधन है। ...शिवाजी महाराज का चरित्र इसी तरह का एक श्रेष्ठ साधन है।"

इस उत्सव की शुरूआत की घटना इस प्रकार है:

रायगढ़ का पहाड़ी किला शिवाजी की राजधानी था। वहीं उनकी मृत्यु भी हुई थी। उनकी समाधि भी वहीं बनाई गई थी। सन् १८८५ में जंगल-विभाग के एक अंग्रेज अधिकारी ने इस समाधि को देखकर अखबारों में उसका उल्लेख किया और उसका जीर्णोद्धार करने का सुझाव दिया। इसके बाद बंबई के गवर्नर सर रिचर्ड टेम्पल जब रायगढ़ गए तब उन्होंने भी समाधि की जीर्ण-अवस्था के बारे में असन्तोष प्रकट किया। इसके परिणामस्वरूप सरकार ने समाधि की सफाई के लिए पांच रुपये साल मंजूर किये। अप्रैल १८९५ में तिलक ने 'केसरी' में एक लेख लिखकर शिवाजी के वंशजों तथा महाराष्ट्र के अन्य जागीरदारों

से समाधि के लिए कुछ-न-कुछ करने का अनुरोध किया। मई में इस काम के लिए उन्होंने एक सभा बुलाई और उसमें समाधि के जीर्णोद्धार के लिए निधि इकट्ठी करने का प्रस्ताव स्वीकार किया गया। अक्तूबर के अन्त तक इस निधि में ग्यारह हजार रुपये एकत्रत हो गए।

१८९६ के अप्रैल मास में रायगढ़ में बड़ी धूम-धाम के साथ शिवाजी-उत्सव मनाया गया।

उत्सव में शिवाजी के बारे में कई भाषण हुए। कविताएं तथा गीत भी सुनाये गए। उत्सव की समाप्ति का भाषण देते हुए तिलक ने कहा, "जिस प्रकार अंग्रेजों ने क्रॉमवेल का स्मारक बनाया है और फ्रांसीसियों ने नेपोलियन बोनापार्ट का, उसी तरह से हम भी अपने स्वराज्य-संस्थापक शिवाजी महाराज का स्मारक बनाना चाहते हैं। यह एक महान् व्यक्ति को श्रद्धांजलि अर्पित करने ही की बात है जिसमें अराजनिष्ठा का कोई सवाल नहीं उठना चाहिए।"

आरम्भ में सरकार ने इन उत्सवों में कोई हस्तक्षेप नहीं किया और महाराष्ट्र के सभी वर्गों के लोग इनमें जोर-शोर से हिस्सा लेते रहे। लेकिन बाद में सरकार को इनके बारे में कुछ शक-सा होगया। इसका फल यह हुआ कि सरकार का विपरीत रवैया देखकर बहुत से देशी राजाओं तथा जागीरदारों ने, जो स्मारक के काम में दिलचस्पी लेते रहे थे, उसके बारे में विरक्ति का दृष्टिकोण अपना लिया। कुछ समय बाद तो शिवाजी-उत्सव मनाना राजद्रोह जैसा होगया, और १८९७ में जब तिलक पर राजद्रोह का मुकदमा चल रहा था, तब उन पर आरोप सिद्ध करने के लिए यह दलील भी दी गई थी कि वह शिवाजी-उत्सव के संचालक थे।और न्यायाधीश ने इस दलील को स्वीकार भी किया।

इसमें सन्देह नहीं कि गणेश-उत्सव व शिवाजी-उत्सव द्वारा महाराष्ट्र में बड़ी जागृति हुई। इससे पहले पढ़े-लिखे लोगों का शायद ही ऐसा कोई कार्यक्रम होता था कि जिसमें आम जनता शामिल होती हो। अगर सिर्फ महाराष्ट्र की ही बात की जाय, तो लोकहितवादी रानडे, गोखले और आगरकर ने भी शहर छोड़कर देहातों की तरफ शायद ही कभी ध्यान दिया हो। वे सब विद्वान थे, देश के हित-चिंतक

थे, देश के प्रश्नों को बराबर समझते थे, किन्तु यह कहना पड़ता है कि जन-साधारण में घुल-मिलकर लोकमानस को पहचानने की कोशिश सबसे पहले तिलक ने ही की थी। इन सबमें तिलक की भाषा को ही आम जनता आसानी से समझ सकती थी। इसी कारण से उनके 'केसरी' का प्रसार भी बहुत तेजी से हुआ और 'केसरी' शब्द ही समाचार-पत्र का एक पर्यायवाची शब्द बन गया।

: १९ :

कांग्रेस में प्रवेश

राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना सन् १८८५ में हुई थी। इसके संस्थापकों में प्रमुख व्यक्ति ह्यूम नामक अवकाशप्राप्त अंग्रेज़ सिविलियन थे। संस्था का उद्‌घाटन अधिवेशन भी इसी वर्ष बंबई में हुआ था। पहले यह विचार था कि राष्ट्रीय कांग्रेस का पहला अधिवेशन पूना में हो। पूना उन दिनों न्यायमूर्त्ति रानडे का कार्यक्षेत्र होने के नाते इतना महत्त्व प्राप्त कर चुका था कि कई लोग उसे पश्चिम-भारत की राजधानी कहते थे। इसलिए राष्ट्रीय कांग्रेस का उद्‌घाटन अधिवेशन पूना में ही करने की योजना उस नगर के तत्कालीन महत्त्व के अनुरूप ही थी। लेकिन पूना में उन्हीं दिनों प्लेग फैला हुआ था। अतः कांग्रेस का पहला अधिवेशन पूना में न होकर बंबई में हुआ। न्यायमूर्त्ति रानडे पहले अधिवेशन में मौजूद थे। न्यू इंग्लिश हाई स्कूल के मंडल के दो सदस्य—आगरकर तथा आप्टे—भी उनके साथ उस अधिवेशन में मौजूद थे। पर यह उल्लेखनीय बात है कि तिलक इस अधिवेशन में शामिल नहीं हुए थे।

आरम्भ में सरकार का कांग्रेस के प्रति बड़ा अच्छा दृष्टिकोण था। कांग्रेस की स्थापना के समय तत्कालीन वायसराय लॉर्ड डफरिन ने श्री ह्यूम को सलाह दी थी कि कांग्रेस को सामाजिक संस्था न बनाकर राजनैतिक संस्था बनाया जाय। दूसरे अधिवेशन के समय उन्होंने कांग्रेस के प्रतिनिधियों को गार्डन-पार्टी दी थी। तीसरे अधिवेशन (मद्रास) में मद्रास के गवर्नर अधिवेशन में कांग्रेस की कार्रवाई देखने के लिए आये। लेकिन

इसके बाद सरकार का दृष्टिकोण बदल गया। यहांतक कि चौथे अधिवेशन के समय इलाहाबाद में कांग्रेस के मंडप के लिए जगह मिलना भी मुश्किल होगया था। उसमें उपस्थित होनेवाले प्रतिनिधियों को भी सरकार ने परेशान किया। इस अधिवेशन के बाद संयुक्त-प्रांत (वर्त्तमान उत्तर प्रदेश) के गवर्नर सर ऑकलैण्ड काल्विन ने श्री ह्यूम को एक पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने कहा कि कांग्रेस का सारे राष्ट्र की एकमात्र प्रतिनिधि-संस्था होने का दावा गलत है। उन्होंने यह सलाह भी थी कि कांग्रेस को राजनैतिक सुधारों की मांग करनेका काम न करके समाजिक उन्नति का काम ही करना चाहिए। सर सैयद अहमद खां इसके पहले से ही मुसलमानों को कांग्रेस से दूर रहने की सलाह दे रहे थे। कांग्रेस के प्रभाव को बढने से रोकने के लिए वह अपनी संस्था—युनाइटेड इण्डियन पेट्रीऑटिक एसोसियेशन—१८८७ में ही स्थापित कर चुके थे।

श्री ह्यूम ने लॉर्ड काल्विन की सलाह मानने से इन्कार कर दिया और अपने उत्तर में स्पष्ट कर दिया देश के सभी बुद्धिमान, शिक्षित तथा हितैषी लोग कांग्रेस के साथ हैं। उन्होंने यह भी कहा कि ब्रिटिश सरकार मुसलमानों को कांग्रेस के विरुद्ध बहकाने की कोशिश कर रही है, क्योंकि वह इसी भेद-नीति से अपना राज्य टिकाये रखना चाहती है।

कांग्रेस का पांचवां अधिवेशन बंबई में हुआ। तिलक ने इसी साल से न्यू इंग्लिश स्कूल तथा फर्ग्युसन कॉलेज के काम के अलावा दूसरे सार्वजनिक कार्यों में भाग लेना शुरू किया था। वह इस अधिवेशन में शामिल हुए। कांग्रेस के कार्यक्रम में सक्रिय मात्र लेने का उनका यह पहला अवसर था। अधिवेशन के अवसर पर 'केसरी' का दैनिक बंबई-संस्करण भी निकाला गया। इस अधिवेशन में ब्रिटिश पार्लमिण्ट के उदार-दलीय सदस्य श्री चार्ल्स ब्रेडलॉ भी उपस्थित थे और उनकी उपस्थिति के कारण इस अधिवेशन को काफ़ी प्रसिद्धि मिली।

इस अधिवेशन की एक और उल्लेखनीय बात यह थी कि इसमें तिलक ने विधान-सभाओं के चुनावों के बारे में एक प्रस्ताव पेश किया। गोखले ने उसका अनुमोदन किया था।

कांग्रेस का छठा अधिवेशन कलकत्ता में हुआ। इसी समय सरकार ने

यह आदेश निकाला कि सरकारी नौकर कांग्रेस के अधिवेशनों में शामिल न हों। इस आदेश से यह स्पष्ट हो जाता है कि सरकारी दृष्टिकोण कितना बदल चुका था। सरकार अब कांग्रेस के खुले विरोध पर उतर आई थी और उसको समाप्त करने की कोशिशों में लग गई थी।

अभीतक कांग्रेस का काम अधिक आन्दोलनात्मक नहीं था। पर सन् १८९२ में ह्यूम ने कांग्रेस की सभी प्रांतीय समितियों को एक गुप्त परिपत्र (सरक्यूलर) भेजा। यह परिपत्र कांग्रेस के सामान्य सदस्यों में प्रसारित करने के उद्देश्य से भेजा गया था। इसमें ह्यूम ने कहा था कि कांग्रेस की गतिविधियों को आन्दोलनात्मक रूप देना चाहिए और इसके लिए कांग्रेस को कुछ राजनैतिक मांगें सामने रखकर उन्हें मनवाने के लिए कम-से-कम एक साल तक सतत आन्दोलन चलाना चाहिए। उसमें उन्होंने यह भी बताया कि आन्दोलन किस प्रकार चलाना चाहिए।

इस परिपत्र में आन्दोलन शुरू करने की बात स्पष्टतः कही गई थी, यह कांग्रेस की अबतक की गतिविधियों से सर्वथा भिन्न तथा एक क्रांतिकारी कदम था। बंबई तथा इलाहाबाद की समितियों ने इस परिपत्र को सदस्यों में प्रसारित करने से इन्कार कर दिया, क्योंकि उनके मतानुसार इस परिपत्र को, जिसमें एक आन्दोलन शुरू करने की बात कही गई थी, प्रसारित करना खुला 'राजद्रोह' था। इलाहाबाद की समिति ने तो बाद में ह्यूम साहब के आग्रह से यह परिपत्र सदस्यों में प्रसारित कर कर दिया, पर बंबई की समिति अपने निर्णय पर डटी रही।

तिलक और आगरकर को यह बात बड़ी बुरी लगी और चिढ़कर उन्होंने ह्यूम साहब का पूरा-का-पूरा परिपत्र अपने अखबारों में प्रकाशित कर दिया। साथ ही उन्होंने इस बारे में सरकार को मुकदमा चलाने की चुनौती भी दी। परिपत्र के बारे में 'केसरी' में लिखते हुए तिलक कहा, "ह्यूम साहब का कहना है कि आपको (सरकार को) बेपरवाही का नतीजा भुगतना पड़ेगा। भारत की जनता दरिद्रता और भुखमरी से त्रस्त हो रही है। वह किस समय बिगड़ जाय, यह कहना कठिन है। उसकी स्थिति सुधारे बिना आपकी हस्ती नहीं रह सकती।... ह्यूम

साहब का यह परिपत्र आम जनता के लिए नहीं है। यह खासतौर पर उन लोगों के लिए है जिन्होंने अंग्रेज़ों की कृपा से काफी सम्पत्ति इकट्ठी की है। इसमें सिर्फ यही बताया गया है कि इन लोगों का देश के प्रति वास्तविक कर्त्तव्य क्या है। लोगों को स्पष्ट शब्दों में उनके कर्त्तव्य के बारे में उपदेश देना न तो अनुचित है और न ही वह राजद्रोह के कानून के अन्तर्गत लोगों को सरकार के खिलाफ़ उभारता ही है।"

इस परिपत्र की अन्य अखबारों में भी काफी चर्चा हुई। पर कांग्रेस ने उसकी तरफ कोई खास ध्यान नहीं दिया। ह्यूम साहब भी कुछ समय के बाद स्वदेश लौट गए और इसके साथ ही परिपत्र का मामला भी समाप्त हो गया।

: २१ :

प्रान्तीय परिषद् तथा विधान परिषद् में

कांग्रेस की स्थापना के तीन वर्ष बाद बंबई इलाके (प्रेसीडेंसी) की प्रान्तीय परिषद् शुरू हुई। उसका पहला अधिवेशन १८८८ में हुआ। तिलक कांग्रेस की तरह उसमें भी उपस्थित न थे। उन्होंने परिषद् में पहली बार १८८९ में उसके दूसरे—पूना—अधिवेशन में भाग लिया और उसमें उन्होंने क्रॉफर्ड के मामले में बंबई सरकार को धन्यवाद देने के लिए पेश किये प्रस्ताव का अनुमोदन किया। परिषद् के तीसरे अधिवेशन में, जो पूना में ही हुआ था, उन्होंने एक प्रस्ताव द्वारा सरकार की आबकारी-नीति की तीव्र आलोचना की। उन्होंने कहा, "ब्रिटिश-शासन में देशी तथा विलायती शराब की खपत कम होने के बजाय बढ़ती जा रही है। अंग्रेजों की सत्ता के पहले मराठों के राज्य में शराब की खपत इतनी नहीं थी।...आज लोगों पर शराब के अड्डे जबरदस्ती लादे जाते हैं। हम इस प्रस्ताव द्वारा चाहते हैं कि सरकार कम-से-कम नगरपालिकाओं, ग्राम-पंचायतों और अन्य स्थानीय-संस्थाओं को इस बारे में 'लोकल ऑप्शन' (स्थानीय स्वेच्छा) का, अर्थात् अपने क्षेत्र में शराब के अड्डे खोले जायें या नहीं, इसका निर्णय करने का अधिकार दे।"

इसके बाद परिषद् के तीसरे अधिवेशन की व्यवस्था करने के लिए तिलक को नामजोशी और गोखले के साथ मंत्री नियुक्त किया गया। चौथे अधिवेशन में तिलक ने सम्मति-आयु कानून के बारे में एक प्रस्ताव पेश किया। इस प्रस्ताव द्वारा देश के लोकमत की अवमानना करके यह कानून बनाने के कारण हिन्दुस्तान की सरकार की निंदा गई थी। यह प्रस्ताव बिना किसी विरोध के आसानी से पास हो गया।

परिषद् का पांचवां अधिवेशन भी पूना में ही हुआ। उसके अध्यक्ष फिरोजशाह मेहता थे। उन्होंने समाज-सुधार के बारे में तिलक के मत का अपने भाषण में समर्थन किया। इस प्रकार पहले अधिवेशन के सिवा, जिसमें वह मौजूद नहीं थे, प्रान्तीय परिषद् में तिलक ने बड़े उत्साह से कार्य किया। यद्यपि कांग्रेस में नरम दल का जोर था, लेकिन इस परिषद् पर तिलक के गरम दल का ही बराबर प्रभाव रहा।

१८९१ में तिलक ने 'ओरायन' यानी 'मृगशीर्ष' और 'वेदकाल-निर्णय' विषय पर डकन-कॉलेज में एक भाषण दिया। दो वर्ष बाद इसी भाषण को विस्तृत करके उन्होंने उसे पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया। इसके बारे में विस्तृत चर्चा आगे की गई है।

हम पहले देख चुके हैं कि पार्लमेण्ट में १८९३ में इण्डियन सिविल सर्विस की परीक्षाएं भारत में भी लिये जाने के बारे में एक प्रस्ताव पास हुआ था। भारत की नौकरशाही ने उसमें कई कठिनाइयां दिखाकर उसे कार्यान्वित नहीं किया। तिलक ने इस विषय में एक याचिका तैयार करके पार्लमिण्ट को भेजी। इस याचिका ने विलियम डिग्बी, वेडरबर्न आदि सदस्यों को बड़ा प्रभावित किया और उन्होंने इस मामले में काफी दिलचस्पी ली।

७ अगस्त १८९५ के दिन बंबई इलाके के मध्य-विभाग के जिला-लोकल बोर्डों के बहुमत से तिलक बंबई लेजिस्लेटिव कौंसिल (विधान परिषद्) के सदस्य चुने गए। उन दिनों किसी व्यक्ति के सदस्य चुने जाने पर भी गवर्नर द्वारा उसकी नियुक्ति होना आवश्यक था। इसलिए चुनाव के बाद भी कौंसिल के सदस्य सरकार की मान्यता प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। इसके लिए जरूरी था कि वे सरकार

के कोपभाजन न बनें। इस बारे में तिलक का मत स्पष्ट था। वह कहा करते थे, "सरकार की उचित और सही आलोचना भी न की जाय, इसके लिए कौंसिल की सदस्यता लालच नहीं हो सकती। लेकिन अगर सरकार की यही अपेक्षा हो कि चुने जाने के बाद सदस्य उसकी आलोचना न करें, तो उचित यही है कि हम ऐसा सदस्यता ही छोड़ दें।"

विधान परिषदों की स्थापना सन् १८९२ के इण्डियन कौंसिल्स एक्ट के अन्तर्गत हुई थी। तिलक केवल यह देखने के लिए ही दो वर्ष तक उसके सदस्य रहे थे कि वह वास्तव में कैसी है और कितनी शक्तिशाली है। इस बीच विधान परिषद् ने कुल मिलाकर आठ दिन, यानी सिर्फ ३६ घंटे ही काम किया। इन दो सालों के काम का लेखा-जोखा यह है—सदस्यों द्वारा पूछे गए प्रश्नों के सरकार द्वारा मनचाहे और लापरवाही भरे उत्तर, वार्षिक बजट पर बहस (सदस्य उसमें परिवर्तन नहीं करा सकते थे), और सात मामूली विधेयक।

जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों के प्रति सरकारी कर्मचारियों का व्यवहार भी अपमानजनक होता था। ये लोग न सदस्यों की आलोचना की परवाह करते थे और न उनकी सलाह की। उल्टे उनकी खिल्ली उड़ाते थे।

तिलक ने अपनी सदस्यता के दौरान में मालगुजारी, जंगल, आबकारी विभाग आदि विषयों में खास दिलचस्पी ली थी। इन विभागों से संबंधित प्रश्न वह अक्सर उठाते रहते थे। एक बार इसी विषय में उन्होंने कहा था, "इन विभागों की आय पिछले २५ वर्षों में साढ़े पांच करोड़ रुपये बढ़ गई है, फिर भी उसमें से बहुत ही थोड़ा हिस्सा जनता के सुख व सहूलियत के लिए खर्च हुआ है।" सरकार विधान परिषद् की स्वीकृति के बिना ही करों में परिवर्तन कर देती थी, इसका उल्लेख करते हुए उन्होंने यह प्रश्न उठाया कि विधान परिषद् के पास किये हुए कानून में सरकार की कार्यकारी समिति का परिवर्तन करना कहांतक उचित है? परिषद् के कई सदस्य सरकार द्वारा नामजद किये जाते थे। नामज़द सदस्य अपनी जगहों पर कायम रहने के लिए सरकार की खुशामद में लगे रहते थे। सरकार के खिलाफ कुछ भी कहने या करने की वे लोग

हिम्मत नहीं करते थे। इसका एक बड़ा अच्छा उदाहरण खुद तिलक का अपना मामला है। १८९७ में जब तिलक पर राजद्रोह का मुकदमा चल रहा था, तो डॉ० भाटबड़ेकर उनके जामिन बनने के लिए तैयार होगए। लेकिन इसी बीच में सरकार ने उन्हें विधान परिषद् का सदस्य नामजद कर दिया। अब सरकार की नाराज़गी के डर से उन्होंने तिलक का जामिन बनने से इन्कार कर दिया। नामजद सदस्यों की खुशामदपरस्ती और पद-लोलुपता का इससे अधिक क्या सबूत हो सकता है? लेकिन तिलक के साथ यह बात नहीं थी। उनका ध्यान सदा जनता की ओर लगा रहता था और वह आवश्यकता पड़ने पर सरकार की बिना किसी हिचक के कड़ी-से-कड़ी आलोचना करते थे।

इसी वर्ष तिलक पूना नगरपालिका की सदस्यता के लिए खड़े हुए और चुन भी लिये गए। पर नगरपालिका में उनका काम सिर्फ अपने साथियों—नामजोशी आदि—के मार्ग-दर्शन तक ही सीमित रहा। इससे अधिक उन्होंने उसके काम में दिलचस्पी नहीं ली।

: २२ :

पूना-कांग्रेस

१८९५ में कांग्रेस का अधिवेशन पूना में होना निश्चित हुआ। तिलक ने ५ जनवरी १८९५ के 'केसरी' में इसके पहले हुए मद्रास के अधिवेशन के बारे में लेख लिखकर कांग्रेस के दस वर्ष के कार्य का सिंहावलोकन किया और उस पर संतोष व्यक्त किया था। साथ ही कांग्रेस के संविधान के बारे में उन्होंने कुछ सुझाव भी दिये थे। यह मद्रास अधिवेशन में ही तय हो गया था कि पूना के अधिवेशन की व्यवस्था फिरोजशाह मेहता आदि नेताओं की निगरानी में हो। इसके अनुसार पूना अधिवेशन की तैयारी के लिए एक कार्यकारिणी समिति बनाई गई और उसने अपना काम शुरू कर दिया।

कांग्रेस के पिछले अधिवेशनों के अवसर पर सामाजिक परिषद् कांग्रेस के मंडप में ही हुआ करती थी। न्यायमूर्त्ति रानडे इन दोनों संस्थाओं

में काफी भाग लेते थे, इसलिए यह व्यवस्था उनके अनुकूल थी। लेकिन पूना में सुधारकों और सनातनियों में वर्षों से झगड़ा चल रहा था। इससे एक बड़ा पेचीदा सवाल पैदा हो गया कि कांग्रेस के मंडप में सामाजिक परिषद् हो या न हो। कांग्रेस के लिए चन्दा देनेवालों के भी दो पक्ष बन गए। सनातनी लोग कहने लगे कि हम तो चन्दा तभी देंगे कि हमें यह आश्वासन दे दिया जाय कि सामाजिक परिषद् कांग्रेस के मंडप में नहीं होगी। सुधारवादी इससे बिल्कुल दूसरी बात पर ही चन्दा देने के लिए तैयार थे। तिलक ने दोनों पक्षों की निन्दा करते हुए कहा कि चन्दा देने के पीछे कोई भी शर्त्त लगाना अनुचित है। लेकिन जैसे-जैसे अधिवेशन का समय पास आता गया, वैसे-वैसे यह विवाद और अधिक तेज होता गया।

तिलक के सिर इस वर्ष कई कामों की जिम्मेदारी आ पड़ी थी। शिवाजी की समाधि के जीर्णोद्धार का आन्दोलन भी इसी साल शुरू हुआ था। नगरपालिका और विधान परिषद् के चुनाव भी इसी बीच में हुए थे। पूना की प्रसिद्ध संस्था 'सार्वजनिक सभा' का संगठन भी इसी समय उनके हाथ में आया था। इन सब गड़बड़ियों के कारण तिलक इस विवाद को खत्म करने के लिए कुछ खास न कर सके और यह झगड़ा बढ़ता ही गया। तिलक के विरोधियों ने उनकी व्यस्तता का लाभ उठा उन पर यह आक्षेप लगाना शुरू किया कि वह कांग्रेस की ओर पूरा ध्यान नहीं दे रहे हैं। उन्होंने कहा कि इसी कारण सितम्बर माह तक अधिवेशन की तैयारियां भी नहीं के बराबर ही हुई हैं। इन आक्षेपों का उत्तर देते हुए तिलक ने कहा, "सितम्बर में पूना में बारिश का मौसम ही रहता है, इस कारण मंडप तो उसके बाद ही बनाया जा सकता है। कुर्सियां बंबई में पूरी संख्या में जब चाहे तब मिल सकती हैं।" मंडप के नक्शे, उसके खर्च का अन्दाज और चन्दा इकट्ठा करने के बारे में जो प्रगति हुई थी, उसका विवरण भी उन्होंने अपने विरोधियों के सामने रखा। परिणामस्वरूप समिति को यह प्रस्ताव पास करना पड़ा कि तिलक का काम संतोषजनक है।

किन्तु रानडे के उदार-पक्ष और तिलक के उग्र पक्ष का झगड़ा तो

चलता ही रहा। तिलक को मन्त्री-पद से हटाकर उनकी अनुपस्थिति में मन्त्री का दफ्तर उनके मकान से ले जाने की कोशिश भी की गई। पर वह असफल रही। आखिर यह झगड़ा सर फिरोजशाह मेहता के आगे गया, और कार्यकारिणी समिति द्वारा अधिवेशन की व्यवस्था के लिए सात मन्त्री नियुक्त किये गए, जिनमें से तीन बंबई के थे और दो-दो पूना के दोनों पक्षों के थे।

लेकिन इससे भी झगड़ें और शक-शुबहे का वातावरण नहीं सुधरा। बंबई के तीनों मन्त्रियों का झुकाव पूना के सुधारक-पक्ष के मन्त्रियों की ओर था। इससे तिलक उलझन में पड़ गए और आखिर उन्होंने मन्त्री-पद से इस्तीफा दे दिया। मन्त्री-पद से मुक्त हो जाने पर अब वह आसानी से इस बात का समर्थन कर सकते थे कि कांग्रेस के मंडप में सामाजिक परिषद् नहीं होनी चाहिए। उन्होंने ऐसा किया भी, लेकिन साथ ही कांग्रेस के अधिवेशन के लिए चन्दा देने के लिए भी वह लोगों से प्रार्थना करते रहे। उनका कहना था कि पढ़े-लिखे लोगों की तरह ही दुकानदारों, कारीगरों और मजदूरों को भी कांग्रेस में लाने की कोशिश करनी चाहिए। ऐसा करते समय उनकी भावनाओं को ठेस न पहुंचे, इसकी भी पूरी सावधानी रखनी चाहिए। इन लोगों के कांग्रेस में आने से सामाजिक परिषद् की गतिविधियों को नुक्सान हो सकता है, इसी कारण समाज-सुधार के हिमायती लोग उन्हें कांग्रेस में लाने की कोशिश नहीं करते। कांग्रेस तो आखिर आम जनता की संस्था बननी चाहिए। इसके लिए धार्मिक व सामाजिक प्रवृत्तियों से उसे मुक्त रखना चाहिए।"

१० नवम्बर १८९५ के दिन पूना-निवासियों की एक विराट-सभा हुई जिसमें श्रीधर विट्ठल दाते नामक एक सज्जन ने यह धमकी दी कि अगर कांग्रेस मंडप में सामाजिक परिषद् बुलाने की चेष्टा की जायगी तो उसमें आग लगा दी जायगी। इसी अरसे में 'सुधारक' पत्र के संपादक श्री पटवर्धन रात में सड़क पर पीट दिये गए। कांग्रेस के नियोजित अध्यक्ष सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने भी कांग्रेस के मंडप में सामाजिक परिषद् बुलाने का आग्रह छोड़ देने के लिए पत्र लिखा। अन्त में कांग्रेस के मंडप में सामाजिक परिषद् बुलाने का विचार छोड़ दिया गया।

अधिवेशन की व्यवस्था की सीधी जिम्मेदारी से मुक्त हो जाने पर भी कांग्रेस में आनेवाले अन्य प्रान्तों के नेताओं के प्रति अपना कर्त्तव्य तिलक अदा करते रहे। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का स्वागत करने के लिए अपने भानजे को उन्होंने ढ़ोंड स्टेशन पर भेजा और वह स्वयं पूना के अगले स्टेशन पर अपने साथियों के साथ उनका स्वागत करने गए। शिवाजी-स्मारक की एक सभा की गई जिसमें सुरेन्द्रबाबू तथा मालवीयजी के भाषण हुए। सभा के पश्चात् तिलक के मित्र बाबा महाराज ने, जो एक जागीरदार थे, कांग्रेस के प्रतिनिधियों को एक गार्डन-पार्टी भी दी।

सुरेन्द्रबाबू के अनुसार कांग्रेस का अधिवेशन बड़ा सफल रहा था। उनके इस कथन को उद्धृत करते हुए तिलक ने कहा, "कांग्रेस सब जमातों की, सब धर्मों की संस्था है। उसका काम देश के तमाम लोगों का काम है। उसमें किसी एक ही धर्म, जाति या वर्ग के मत के प्रसार करने के लिए स्थान नहीं हो सकता।"

इस अधिवेशन के समय निकाले किसी परिपत्र में गोखले ने आम जनता के बहुमत को व्यक्त करने के लिए 'ब्रूट फोर्स' (पशु-बल) शब्द का इस्तेमाल किया था। वास्तव में यह शब्द लाक्षणिक अर्थों में काम में लाया गया था, जिसका आशय केवल विरोधियों के संख्या-बल से ही था। पर तिलक ने इसके शाब्दिक अर्थ पर जोर देकर गोखले की कड़ी आलोचना की और इस शब्द के प्रयोग को स्वयं अपनाकर उन्होंने उसे अपनी नीति की विशेषता बताने के साधन के रूप में इस्तेमाल किया। 'केसरी' में उन्होंने लिखा, "'केसरी' वाकई जानवरों का राजा है और इसी कारण धोबी, मोची, तेली, तंबोली आदि जानवरों के साथ घुल-मिलकर रहने में उसे शरम नहीं महसूस होती। इतना ही नहीं, बल्कि ये सब जानवर ही हमारी शक्ति हैं, ऐसी उसकी मान्यता है।"

इसी वर्ष तिलक के पुराने साथी आगरकर का देहान्त हो गया। अपने एक घनिष्ट मित्र और कट्टर देशभक्त की मृत्यु से तिलक को बड़ा दुःख हुआ। कहा जाता है कि आगरकर का मृत्यु-लेख लिखते समय उनकी आँखों से आँसुओ की धार बहने लगी थी। २१ वर्ष

के बाद, १९१६ में, जब आगरकर की पुण्य-तिथि मनाई जा रही थी, तब उनके व्यक्तित्व का वर्णन करते हुए तिलक ने कहा था, "परिस्थिति के गुलाम न बनकर उसे यथासम्भव, यथाशक्ति अपने काबू में लाने के लिए आवश्यक मनोनिग्रह, स्वार्थ-त्याग एवं ध्येय-निष्ठा जिस आदमी में होती है, और जो आदमी दुःखों की या संकटों की चिन्ता किये बिना अपनी शक्तियों का लोगों के भले के लिए उपयोग करता है, वही आदमी महान् कहा जा सकता है। आगरकर इसी कोटि के व्यक्ति थे।" आगरकर की पुण्य-तिथि मनानेवाले अधिकतर सुधारक ही थे, और उन्होंने आगरकर के समाज सुधार के कार्य की ही प्रशंसा की थी। उसके बारे में तिलक ने लिखा, "आगरकर का तर्क-चक्र राजनैतिक, सामाजिक एवं शिक्षा-सम्बन्धी बातों में एक-सा ही, बिना किसी रुकावट के चलता था किन्तु समाज सुधारकों की आगरकर के जीवन के इन दूसरे पहलुओं की तरफ देखने की इच्छा न थी।...उन्हें पूरा आगरकर नहीं चाहिए था; पूरे आगरकर को वे हजम भी नहीं कर सकते थे।"

: २३ :

'सार्वजनिक सभा'

राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना से पहले देश के विविध प्रान्तों में कई राजनैतिक संस्थाएं सार्वजनिक कार्य कर रही थीं। पूना की 'सार्वजनिक सभा' एक ऐसी ही प्रमुख संस्था थी। इसकी स्थापना सन् १८७० में हुई थी। इसके संस्थापकों में न्यायमूर्त्ति रानडे और गणेश वासुदेव जोशी उर्फ 'सार्वजनिक काका' मुख्य थे। उनके कुशल संचालन-निर्देशन में सार्वजनिक सभा कुछ ही समय के भीतर देश-भर में प्रसिद्ध हो गई। यह सरकार और जनता के बीच एक कड़ी-जैसी बन गई। सरकार ने भी इसे जनता की प्रतिनिधि संस्था के रूप में स्वीकार कर लिया।

यह पीछे बताया जा चुका है कि कमिश्नर क्रॉफर्ड के मामले में इस सभा के मंत्री श्री सीताराम हरी चिपळुणकर को इस्तीफा देना पड़ा था और उनकी जगह तिलक के विरोध के बावजूद रानडे की

सिफारिश व आग्रह से गोखले की नियुक्ति हुई थी।

इस घटना के बाद पूना के सार्वजनिक जीवन के सामाजिक तथा राजनैतिक, दोनों, क्षेत्रों में रानडे के पुराने—नरम—तथा तिलक के नये—गरम—पक्षों के बीच मतभेद बढ़ता गया। इस मतभेद का प्रभाव सार्वजनिक सभा की गतिविधि पर भी पड़ा। तिलक ने सार्वजनिक सभा के संगठन को अपने हाथ में लेने का निश्चय किया। १४ जुलाई १८९५ को सभा के वार्षिक अधिवेशन में नई कार्यकारिणी का चुनाव हुआ। इस चुनाव में तिलक का पलड़ा भारी रहा। अपने बहुमत के बल पर उनके पक्ष ने केवल गोखले को मुख्य-मंत्री के पद पर रहने देकर बाकी सब जगहों पर अपने आदमी नियुक्त कर दिये। इस प्रकार सार्वजनिक सभा का संगठन पूर्णतः उनके हाथ में आगया। इससे रानडे का सभा के साथ सम्बन्ध अपने-आप समाप्त होगया। तिलक रानडे का प्रौढ़ तथा अनुभवी होने के नाते आदर तो अवश्य करते थे, पर वह उनके नेतृत्व में अन्धविश्वास नहीं रखते थे। सभा के संगठन को अपने हाथ में लेने का कारण यही था कि वह सभा पर रानडे के नेतृत्व तथा नियंत्रण को समाप्त करना चाहते थे।

सार्वजनिक सभा में अपने पक्ष की हार होने के बाद गोखले ने उसके मंत्री-पद से इस्तीफ़ा दे दिया। रानडे के आशीर्वाद से नवम्बर १८९६ में 'डकन-सभा' नाम की एक दूसरी संस्था स्थापित की गई। तिलक ने रानडे को इस कार्य को गलत बताया तथा उसकी कड़ी आलोचना की।

१८९६ की एक और महत्त्वपूर्ण घटना बम्बई के तत्कालीन गवर्नर लार्ड हैरिस की अपनी पदावधि पूरी हो जाने के बाद वापसी थी। इस अवसर पर कई खुशामदी लोगों ने उनकी एक मूर्त्ति बनाने की योजना बनाई।

लॉर्ड हैरिस एक बड़े उदण्ड अधिकारी थे और तिलक उनके बड़े विरोधी थे। इस अवसर पर उन्होंने लिखा, "हमने आजतक ऐसा कोई दूसरा गवर्नर नहीं देखा था कि जिसने अपने इलाके के लोगों पर चार साल तक हुकूमत करने के बाद उन्हें यह कहा हो कि 'तुम बिल्कुल बेअक्ल हो, नीच हो।' गवर्नर साहब के ऊंचे पद के कारण लोगों ने

उनका यह कहना चुपचाप सुन लिया।...लेकिन हरेक आदमी अपने घर और धंधे का गवर्नर होता है। लाट साहब ने जो बात किसी एक प्रसंग पर और एक जगह पर कही, वही बात दूसरे लोग उनके बारे में किसी दूसरे प्रसंग और दूसरी जगह पर ज़रूर कह सकते हैं।"

लॉर्ड हैरिस की मूर्त्ति बनाने की योजना बनानेवालों से उन्होंने कहा, "लार्ड हैरिस की मूर्त्तिके नीचे उनके ये गुण अवश्य लिखे जाने चाहिए—(१) लोकमत का तिरस्कार, (२) खेल-कूद का शौक, (३) अपने काम के बारे में प्रमाद; (४) लोगों की भावना के प्रति लापरवाही; और (५) स्वजातियों के लिए पक्षपात।"

मूर्त्ति बनाने के समर्थकों ने कहा कि गवर्नर की इस तरह आलोचना करना राजद्रोह जैसा होगा और ऐसा करने से इन्कार किया। तिलक ने उन्हें उत्तर देते हुए कहा, "गवर्नर तो शाही-सरकार का एक मुनीम जैसा ही है। उसकी आलोचना करने से साम्राज्ञी की आलोचना नहीं होती।... हमारे साथ जो अन्याय हो रहा है वह साम्राज्ञी की सरकार को मान्य नहीं है। ऐसी दशा में भी यदि हम इसके बारे में न लिखें, तो अखबार चलाने का क्या फायदा?" गोखले ने भी हैरिस के कारनामों की ऐसी ही—किन्तु नरमी से—आलोचना की थी।

यह घटना भी तिलक के दृष्टिकोण की अच्छी परिचायक है। वह न अन्याय को सह सकते थे और न उसे नज़र-अन्दाज़ ही कर सकते थे।

इसी बीच तिलक के अभिन्न साथी तथा मित्र नामजोशी बीमार पड़े और इसी बीमारी में चल बसे। उनका सारा जीवन सार्वजनिक कामों में ही लगा रहा था और इसलिए अपने घर-गृहस्थी की ओर से वह बिल्कुल लापरवाह रहे थे। मृत्यु को सामने खड़ी देखकर उन्हें इस बात की चिन्ता हुई कि उनके पीछे उनके कुटुम्बियों का क्या होगा? इस विचार से वह बड़े दुःखी हुए और उनकी आँखों से आँसू बहने लगे। तिलक पास ही मौजूद थे। उन्होंने नामजोशी को आश्वासन दिया कि वह उनके कुटुम्बियों की पूरी देख-भाल करेंगे। मित्र को दिये हुए इस वचन का तिलक नेबड़े आग्रह से पालन किया। अपने भानजे को वह हमेशा कहते थे, "घर के आदमी भले ही ऐसा समझें कि तिलक जेल में

है या कालेपानी में है, पर माधवराव के कुटुम्ब को हमेशा यही लगना चाहिए कि तिलक गायकवाड़ बाड़े में ही मौजूद है।"

: २४ :

अकाल-निवारण आन्दोलन

हिन्दुस्तान का आर्थिक इतिहास देखने से पता चलता है कि उन्नीसवीं सदी में हमारा देश अकालों से लगातार पीड़ित होता रहा था। १८७६-७७ में जब महाराष्ट्र में अकाल पड़ा था, तब पूना की सार्वजनिक सभा के 'सार्वजनिक काका' तथा रानडे ने बड़े कष्ट उठाकर अकाल से पीड़ित किसानों को सहायता देने और सरकार के सामने उनकी मुसीबतें पेश करने का काम बड़ी अच्छी तरह किया था। किसानों की शिकायतें इस तरह से सरकार के सामने पेश करके सहायता मांगने का आन्दोलन हिन्दुस्तान में सबसे पहले शायद पूना की सार्वजनिक सभा ने ही चलाया था। सरकार ने अकाल सहायता तथा निवारण के लिए जो 'फैमीन कोड' बनाया था, वह भी काफ़ी हद तक इसी आंदोलन का नतीजा रहा होगा। तिलक के जीवन पर जिन दो-तीन घटनाओं का असर हुआ था उनमें से एक यह अकाल है।

ऐसी ही एक बात १८९६ में सामने आई। अकाल के समय और बाद में प्लेग के समय अपने देश-बांधवों के लिए करुणा से पीड़ित होकर तिलक ने अथक परिश्रम करके उनकी थोड़ी-बहुत सहायता करने का प्रयत्न किया। इस साल अति वृष्टि से पहली फसल बरबाद होगई और बाद में वर्षा बिल्कुल न होने से लोगों पर दूसरी मार पड़ी। इससे वे एकदम हताश हो गए। देश के कई भागों में लूट शुरू होगई। किन्तु अकाल से पीड़ित लोगों को सरकार की ओर से मदद मिलने के कोई लक्षण दिखाई न दिये।

अनाज और घास-चारे की बड़ी तंगी होगई थी। इससे हजारों की संख्या में कृषि-उपयोगी पशु कसाइयों के यहां पहुँचने लगे और सैकड़ों गरीब हिन्दू पादरियों के जाल में फंसकर ईसाई होने लगे।

इस समय सार्वजनिक सभा तिलक के अधिकार में थी। सभा ने अकाल-निवारण का आन्दोलन शुरू किया। पहला जरूरी काम तो सरकार के बनाये हुए फ़ैमीन-कोड का अमल करवाना ही था। इसके लिए कुछ आन्दोलन करना जरूरी था। इसलिए फ़ैमीन कोड के अंतर्गत जनता को उसके अधिकारों की जानकारी कराने के लिए तिलक ने एक मराठी पुस्तक तैयार करके छपवाई, और उसकी प्रतियां लोगों में बांटने के लिए जगह-जगह पर भिजवा दीं।

इसके अलावा अकाल की जांच करने के लिए प्रतिनिधि भेजे गए और लोगों को उनके अधिकारों के बारे में बताने के लिए महाराष्ट्र के अलग-अलग जिलों में जगह-जगह पर सभाएं की गईं। प्रतिनिधियों द्वारा प्राप्त जानकारी के आधार पर सरकार को अर्जियां दी जाती थीं। इनका उत्तर देने में सरकार को काफी उलझनों का सामना करना पड़ता था। सरकार उल्टे-सीधे जवाब देकर आन्दोलन को खत्म करने की कोशिश करती थी। तिलक इस बात के लिए सदा जागरूक रहते थे कि ऐसा कोई अवसर सरकार को न मिले। इसके लिए 'केसरी' द्वारा वह आन्दोलन को पूरे जोर से प्रोत्साहन देते रहते थे। साथ ही उनकी यह कोशिश भी थी कि लोग अपनी सामाजिक जिम्मेदारी समझें। वह खुद दूकानदारों के पास जाकर उनसे कहते थे कि वे नफे के लिए अनाज के भावों में वृद्धि न करें। धनवानों के पास जाकर उनकी सहायता से वह गरीबों के लिए सस्ते अनाज की दुकानें खुलवाते थे। अकाल के कारण कहीं जुलाहों का धन्धा बिलकुल चौपट न हो जाय और उन्हें सड़क पर पत्थर फोड़ने के लिए न जाना पड़े, इसके लिए उन्हें घर में बैठे-बैठे काम करने की सुविधाएं प्रदान करने की कोशिश भी की गई।

'केसरी' द्वारा कई सप्ताह तक वह लगातार लोगों को अकाल की वास्तविक परिस्थिति के बारे में बताते रहे। साथ ही उन्होंने लोगों को यह भी बताया कि फ़ैमीन-कोड के अनुसार सरकार का यह कर्त्तव्य है कि वह उन्हें सहायता दे, और लोगों को उस कोड से पूरा-पूरा फायदा उठाना चाहिए। उन्होंने लिखा, "शासकों का कर्त्तव्य है कि वह अकाल के समय प्रजा की रक्षा करें। हमारी सरकार ने तो हमसे पैसे

लेकर अकाल का बीमा करवा लिया है। खुद महारानी साहिबा का हुक्म निकला है कि अकाल से लोगों को मरने न दिया जाय। उप-भारत-सचिव ने पार्लमिण्ट में कहा है कि अगर हमारी तिजोरी के पैसे पूरे न हुए तो हम कर्ज लेकर भी लोगों की जान बचायेंगे। सरकार की ओर से अगर सचमुच इतनी तैयारी है, तो समझ में नहीं आता कि लोग नाहक क्यों मरते हैं ? ऐसा नहीं होना चाहिए कि दाता तो हो, लेकिन मांगनेवाले न मिलें। अगर दाता सच्चा होगा तो अवश्य ही टिका रहेगा, नहीं तो उसकी पोल खुल जायगी।...अगर आपके पास सरकार का लगान देने के लिए पैसे हैं, तो अवश्य दीजिये, पर न हों तो सिर्फ नीचे दर्जे के सरकारी अमलदारों से डरकर अपनी जायदाद मत बेचिये।" लोगों की कायरता से तिलक को बड़ा दुःख होता था। वह कहा करते थे, "अकाल तो हम चाहे जितने सह सकते हैं, किन्तु ऐसे कायर लोगों का क्या किया जाय ?" अनाज की लूटमार करनेवालों से वह कहते थे, "बाज़ार क्यों लूटते हो ? (खाना नहीं है तो) कलेक्टर के पास जाकर खाना मांगो। उसका फर्ज़ है कि वह आप लोगों की भूख मिटाये।" आखिर बिल्कुल परेशान होकर उन्होंने पूछा, "मृत्यु सिर पर मंडरा रही है। ऐसी अवस्था में भी आप डर छोड़कर हिम्मत नहीं करेंगे क्या ?"

सार्वजनिक सभा की ओर से जो प्रचारक ज़िलों में कार्य कर रहे थे, उनमें प्रो० साठे ने थाना ज़िले में किसानों की एक बड़ी भारी सभा में असिस्टेंट-कलेक्टर, फौजदार, तहसीलदार तथा उनके साथ की सशस्त्र पुलिस की उपस्थितिमें लोगों से यह कहा कि, अगर आपकी फसल बरबाद होगई है तो आप लगान बिल्कुल न दें। सरकारी अमलदार यह कैसे सह सकते थे ? उन्होंने प्रो० साठे पर मुकदमा दायर कर दिया। तिलक उस वक्त कांग्रेस के अधिवेशन में भाग लेने कलकत्ता गए हुए थे। साठे के मुकदमे के लिए वह सीधे पूना आये और वहां से पेण, जहां मुकदमा चलनेवाला था, गए। साठे पर सरकारी कर्मचारियों के काम में दखल देने का आरोप साबित नहीं हुआ और वह बरी कर दिये गए।

ऐसी स्थिति में सार्वजनिक सभा का प्रभाव और कार्य ज्यादा समय तक चलने देना सरकार के लिए असम्भव था। थोड़े ही दिनों

में उसे मौका भी मिल गया और इसका फायदा उठाकर उसने सभा की मान्यता रद्द कर दी। बात यह हुई कि सभा के एक प्रचारक, श्री एक्सम्बेकर की एक विज्ञप्तिमें फसल की आनावारी (फसल का तखमीना) और लगान कब माफ और कब मुल्तवी हो सकता है, इसके बारे में कोई जानकारी गलत दी गई थी। सरकार ने इस विज्ञप्ति पर यह सवाल उठाया कि ऐसी गलत जानकारी से लोग नाहक उत्तेजित होकर गलत रास्ते पर चलने लगते हैं। इसी संबंध में सरकार और सभा के बीच कुछ लिखा-पढ़ी होने के बाद सरकार ने सभा को सूचित कर दिया कि एक मान्यता-प्राप्त संस्था के रूप में सभा का जो स्थान था, उससे उसे हटा दिया गया है।

सार्वजनिक सभा द्वारा चलाया हुआ यह आन्दोलन २०–२२ वर्ष बाद गांधीजी द्वारा खेड़ा जिले में चलाये गए सत्याग्रह आंदोलन का पूर्व गामी था।

सभा की मान्यता को रद्द करते हुए सरकार ने जो बात कही थी, उसके बारे में तिलक ने यह लिखा था, "सभा की अर्जी रद्दी की टोकरी में डालना या उस पर ध्यान देना, यह सरकार का काम है। और वह उसके बारे में जैसा चाहे वैसा कर सकती है। सभा तो अपना काम जारी रखेगी। अर्थात् सरकार की खुशामद-दरामद की जगह वह लोगों की प्रतिकार-शक्ति विकसित करने की ओर ज़्यादा ध्यान देगी।" यही सूत्र तिलक की नीति का आधार भी था।

: २५ :

प्लेग का प्रकोप

अकाल के बाद आमतौर पर हैजे की या ऐसी ही किसी और महामारी का प्रकोप होता है। किन्तु १८९६-९७ के अकाल के बाद दूसरा ही एक अकल्पित रोग देश में सब जगह फैल गया। यह था 'ब्यूबोनिक प्लेग' या गांठवाला बुखार। वह शुरू हुआ १८९६ के सितम्बर मास में बंबई के मांडवी नामक मोहल्ले से। प्रारम्भ में अधिकारियों ने इसकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। लोगों को भी इस रोग के बारे में कुछ मालूम

नहीं था। इससे वे कुत्ते-बिल्ली की तरह मरने लगे। बाद में यह मालूम होने पर कि यह बीमारी प्लेग है, पंजाब, बंगाल आदि प्रान्तों के लोग भी चौंक उठे। इतना ही नहीं, जब इंगलैण्ड में भी कुछ बीमारी-सी फैली तो वहां के लोग घबरा गए कि कहीं यह बीमारी वहां भी न फैल जाय। उनका यह डर स्वाभाविक था, क्योंकि सन् १६६५ में इस रोग ने सारे लंदन शहर को बे-चिराग कर दिया था। ब्रिटिश सरकार ने भारत सर-को हिदायत भेजी कि प्लेग की फौरन रोक-थाम की जाय।

पूना में प्लेग के कारण पहली मृत्यु सितम्बर के अन्त में हुई। रोग की आयात बंबई से ही हुई थी, इसलिए वहांसे आनेवाले लोगों पर पूना नगरपालिका की ओर से निगरानी शुरू हुई। लेकिन जनवरी में प्लेग के कारण बंबई की अदालतें और दफ्तर बन्द हो गए। इससे बंबई छोड़कर जानेवालों की संख्या एकदम बढ़ गई और प्लेग के कई रोगी डॉक्टरों की जांच से बचकर पूना में तथा इलाके के अन्य शहरों में पहुंच गए। जनवरी के अन्ततक पूना में लगभग सौ-सवासौ आदमी प्लेग के शिकार हो गए। ऐसी परिस्थिति में एक जिम्मेदार नागरिक तथा पत्र-कार की हैसियत से तिलक ने इस रोग के कारण, लक्षण, उपचार, प्रतिकार तथा सावधानी के बारे में जानकारों से लेख लिखवाकर छापना शुरू किया। उन्होंने लोगों की इधर-उधर थूकने, कूड़ा-कचरा फेंकने, बच्चों को नाली पर या गली में टट्टी करने के लिए बैठा देने आदि बुरी आदतों की निन्दा की। साथ ही उन्होंने यह सलाह भी दी कि जिन लोगों के यहां प्लेग के मरीज़ की समुचित देखभाल तथा इलाज की सुविधा न हो, उन्हें उसे अस्पताल में भेज देना चाहिए।

इधर सरकार भी प्लेग का सामना करने के लिए तैयार हुई। फरवरी में केन्द्रीय विधान परिषद् में प्लेग जैसे संक्रामक रोगों की रोकथाम के लिए एक विशेष कानून पास किया गया और उसके द्वारा असैनिक अधि-कारियों को भी बीमारी की रोकथाम के लिए फौजी अधिकार दे दिये गए। इस कानून का सख्ती से अमल कराने के लिए विशेष प्लेग अधि-कारियों की नियुक्ति की गई।

पूना में रैण्ड नामक सिविलियन की स्पेशल प्लेग ऑफिसर की

जगह पर नियुक्ति हुई। नये कानून के अंतर्गत रोग की रोकथाम के लिए सख्त कदम उठाये गए। उनमें से कुछ ये थे—बीमारी के इलाके से आने वाले लोगों की क्वारंटीन (यात्रा में रुकावट), मरीज़ को बस्ती से अलग करके अस्पताल भेज देना, प्लेग के रोगी के मकान में कृमिनाशक औषधियों की धूनी देना तथा मकान की सफाई करना, रोगी के इस्तेमाल किये कपड़े जलाना, मकान में हवा तथा प्रकाश आने के लिए दीवारों में बड़े-बड़े छेद कर देना और छप्पर खोल देना आदि।

तिलक जहां यह मानते थे कि प्लेग की रोकथाम के लिए कदम अवश्य उठाये जाने चाहिए, वहां वह इतनी सख्ती के भी खिलाफ थे। इन सख्त कदमों की निन्दा करते हुए उन्होंने कहा कि अगर यह काम अधिकार के ज़ोर पर किया जायगा तो बड़ी मुसीबत खड़ी हो जायगी। इसके अलावा उन्होंने डॉक्टरों की एक सभा बुलाई और उसके द्वारा एक प्रस्ताव पास करवाकर उसे नगरपालिका तथा सरकार के पास भेज दिया। उसमें कहा गया था कि भय और चिन्ता भी इस रोग के प्रसार के कारण हो सकते हैं। इसलिए सेग्रिगेशन (मरीजों का प्रथक्करण) आदि कार्रवाई सरकार द्वारा न होकर लोगों द्वारा होना इष्ट है। पूना में प्लेग रोकने की पूरी व्यवस्था अकेले रैण्ड साहब के हाथ में थी। उन्होंने अपना काम छावनी से सेना के गोरे सिपाहियों की सहायतासे जोरों से शुरू किया। रैण्ड साहब की ये पल्टनें 'छिपे हुए' मरीज़ों या उनके मुर्दों की खोज में मकानों में चाहे जहां घुस जाती थीं। रसोई घर, देवघर, या प्रसूति-घर, कुछ इनसे बचता नहीं था। इसका परिणाम यह हुआ कि लोग प्लेग से जितना डरते थे, उससे कहीं अधिक प्लेग के इन इलाज करनेवालों से डरने लगे। ऐसा होते हुए भी तिलक ने यह कहकर कि ये सिपाही हमारे रीति-रिवाज नहीं जानते हैं, उनके द्वारा किये जानेवाले उपायों का समर्थन किया। किन्तु साथ ही उन्होंने प्लेग अधिकारी की तथा उसकी पल्टन की लापरवाही, जबरदस्ती और जुल्म का भी विरोध किया।

मार्च में तिलक के प्रयत्न से हिन्दुओं के लिए एक स्वतन्त्र अस्पताल शुरू हुआ। लोग भी खुशी से प्लेग के मरीज़ों को वहां भेजने लगे।

इधर मकानों की जांच करनेवाली फौजी टुकड़ियों से लोग काफी

परेशान हो गए थे। कहीं-कहीं तो स्त्रियों की इज़्ज़त भी इन सिपाहियों द्वारा लूटी जाने के किस्से सुने गए। इससे लोग शहर छोड़कर भागने लगे और सब जगह भय का वातावरण छा गया। तिलक ने लोगों को उनकी कायरता और अपने मकान आदि छोड़कर भाग जाने के लिए खूब फटकारा। उन्होंने कहा, "सिपाहियों का गैर-कानूनी व्यवहार सहन करने की कोई जरूरत नहीं है। उसका प्रतिकार करना हमारा कर्त्तव्य है। और कानून की मर्यादा में रहकर हम अपना आत्म-संरक्षण अवश्य कर सकते हैं।" तिलक बीमारी के दौरान में अपने परिवार के साथ पूना में हो रहे और 'केसरी' में इस बारे में बराबर लेख लिखते रहे कि लोग शहर छोड़कर नहीं भागें।

आगरकर द्वारा स्थापित 'सुधारक' ने भी प्लेग के समय हुए जुल्मों की सख्त निन्दा की और लोगों से यहांतक कहा कि लोग "कायर बनकर रो क्यों रहे हैं ? इन जंगली सिपाहियों को ठिकाने क्यों नहीं लगाते ? लोग मर्द हैं या औरत ? अपने पर आक्रमण करनेवाले का प्रतिकार करना कोई गुनाह नहीं है।"

१६ मई के दिन रैण्ड के हस्ताक्षरों से एक सूचना निकली कि प्लेग के कारण होनेवाली जांच व निगरानी थोड़े ही दिनों में बन्द कर दी जायगी। कुछ ही दिनों में प्लेग की रोकथाम के लिए उठाये कदमों के कारण, या मौसम बदल जाने के कारण, प्लेग खत्म हो गया और लोग लौटकर अपने मकानों में रहने लगे। साथ ही प्लेग के लिए अपनाये गए विशेष कदम भी वापस ले लिये गए।

इसी साल महारानी विक्टोरिया को गद्दी पर बैठे साठ वर्ष पूरे होते थे। इसलिए भारत में जगह-जगह पर उसका हीरक-महोत्सव मनाने का कार्यक्रम शुरू हुआ। उसीके उपलक्ष्य में २२ जून की रात को एक समारोह पूना के गवर्नमेण्ट-हाउस में हुआ। समारोह में शामिल होने के लिए तिलक भी गवर्नमेण्ट-हाउस गए थे। मध्यरात्रि को ज़लसा पूरा हो जाने पर प्लेग अफसर रैण्ड अपनी घोड़ागाड़ी में घर के लिए रवाना हुए। उनके पीछे ही दूसरी गाड़ी में लेफ्टिनेन्ट आयर्स्ट अपनी पत्नी के साथ थे। गाड़ियां गवर्नमेण्ट-हाउस से कुछ ही दूर जा पाई थीं

कि इतने में पास की झाड़ी से निकलकर एक आदमी ने एकाएक बाहर निकलकर रैण्ड की गाड़ी के पीछे चढ़कर उन पर पिस्तौल छोड़ी। रैण्ड बेहोश होकर नीचे गिर गए। कुछ ही क्षणों के बाद पिस्तौल की एक और आवाज़ सुनाई दी और लेफ्टिनेन्ट आयर्स्ट उसी क्षण चल बसे। श्रीमती आयर्स्ट चिल्ला उठीं। आगे जानेवाले एक फौजी अफसर ने दोनों गाड़ियां तुरन्त रोक दीं और वह रैण्ड को वहीं से अस्पताल ले गए। दस दिन बाद अस्पताल में ही रैण्ड की मृत्यु हो गई।

दूसरे दिन पूना में सनसनी फैल गई। खून के बारे में लोग कई प्रकार से अंदाज़ लगाने लगे। सरकार द्वारा खून की जांच शुरू हुई और हत्यारे तथा उसके साथियों को पकड़ने के लिए बीस हजार रुपये का इनाम घोषित किया गया।

हत्या के बारे में 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' तथा दूसरे एंग्लो-इण्डियन अखबार एकदम निर्मूल और वाहियात प्रचार करने लगे। उन्होंने कहा, "पूना के ब्राह्मणों ने एक बड़ा षड़यंत्र रचा है और मि० रैण्ड का खून इसी षड्यंत्र का पहला कदम है।" पूना के कलेक्टर मि० लैंब ने नागरिकों की एक सभा बुलाकर उनसे कहा कि वर्त्तमान शिक्षा से बहके हुए लड़के और शिवाजी-उत्सव जैसे उत्सव तथा देशी अखबारों में लिखे राजद्रोहात्मक लेख ही इस खून के लिए जिम्मेदार हैं। दूसरे ही दिन पूना के शहरियों पर करीब डेढ़ लाख रुपये की 'प्यूनिटिव-पुलिस' लाद दी गई।

परिस्थिति इतनी बिगड़ जाने पर भी तिलक ने पूरी निर्भयता से सरकारी कार्रवाई का विरोध किया। 'केसरी' के पृष्ठों द्वारा उन्होंने सरकार से पूछा, "सरकार का दिमाग ठिकाने है या नहीं ?" उन्होंने लिखा, "खून हुआ, यह तो बहुत ही खराब बात हुई। खूनी को पकड़-कर उसे सज़ा देनी ही चाहिए। इसके लिए सरकार ने जो बीस हज़ार रुपये का इनाम घोषित किया है, उतना काफी है। सारे शहर पर 'प्यूनिटिव-पुलिस' लादना उचित नहीं है। इससे तो यही लगता है कि खून करनेवाले की जगह खुद हमारी सरकार पर खून चढ़ा है। और इसी कारण उसकी निगाह फिर गई है।" सरकार ऐसी स्पष्टोक्ति कैसे बर्दाश्त करती ? इसके लिए उसने तिलक पर मुकदमा चलाने की कार्रवाई

शुरू की।

रैण्ड की हत्या की प्रतिक्रिया चारों ओर फैल गई। इंगलैण्ड के अखबारों में भी इस बारे में तरह-तरह के समाचार प्रकाशित होने लगे। गोखले उस समय वेल्बी आयोग के सामने गवाही देने के लिए इंगलैण्ड गए हुये थे। पूना की सही जानकारी प्राप्त करने के लिए कई अखबारों के सम्वाददाता उनके पास पहुंचे। हिन्दुस्तान से प्राप्त अपने मित्रों के पत्रों के आधार पर उन्होंने सम्वाददाताओं से कहा, "प्लेग के समय रैण्ड और उनके साथियों ने जनता पर जो जुल्म किया था, रैण्ड और आयर्स्ट का खून उसीके परिणाम से हुआ है। छावनी के गोरे सिपाहियों और प्लेग के अफसरों ने स्त्रियों को घर में से बाहर निकाल कर खुले रास्ते पर उनकी जांच की। एक-दो स्त्रियों पर बलात्कार भी किया गया है, और उनमें से एक ने तो आत्महत्या करली।"

इस मुलाकात के प्रकाशित होने से इंगलैण्ड में खलबली मच गई। पार्लमिण्ट में भी सवाल-जवाब हुए और बंबई सरकार से स्पष्टीकरण मांगा गया। सरकार ने मामूली जांच करके लिख भेजा कि इस मामले में सरकार का कोई दोष नहीं है और गोखले की सूचना गलत है।

इससे गोखले की स्थिति बड़ी विकट हो गई। इंगलैण्ड में लोग उनकी कड़ी टीका करने लगे। अपने कथन के सबूत प्राप्त करने के लिए वह तुरन्त भारत लौटे। लेकिन जिन लोगों ने उन्हें पत्र लिखे थे, वे कहने लगे कि गोखले उन पत्रों का उपयोग न करें। बंबई आते ही वहांके पुलिस-कमिश्नर उनसे मिले और पत्र लेखकों के नाम उनसे जानने चाहे। किन्तु गोखले ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। बम्बई से वह पूना गए और अपने आदरणीय गुरु रानडे की सलाह से उन्होंने सरकार से माफी मांग ली।

गोखले की माफी से लोग उन पर बहुत नाराज हुए। वास्तव में देखा जाय तो इसमें नाराजगी की कोई बात नहीं थी। कोल्हापुर के मामले में जिस प्रकार तिलक और आगरकर ने माफी मांगी थी, गोखले ने भी बिल्कुल उसी तरह से माफी मांगी थी।

: २६ :

राजद्रोह का पहला मुकदमा

मंगलवार, २७ जुलाई १८९७ के दिन बंबई के चीफ प्रेसिडेंसी मजिस्ट्रेट की अदालत में 'केसरी' के १५ जून के लेख को राजद्रोही बताकर उसके लेखक तिलक, मुद्रक बाळ और प्रेस के मालिक गोखले पर मुकदमा दायर किया गया गया। तिलक बंबई एक दिन देर से पहुंचे थे इसलिए उन्हें उसी दिन रात को दस बजे उनके मित्र दाजी आबाजी खरे के घर से गिरफ्तार कर लिया गया। खरे उन्हें जमानत पर छुड़ाने के लिए मजिस्ट्रेट के पास गए। लेकिन उसने इन्कार कर दिया। वहां से निराश होकर वह पुलिस चौकी पहुंचे, जहां तिलक हवालात में बन्द थे। उनका खयाल था कि तिलक उनकी प्रतीक्षा कर रहे होंगे; पर वहां जाकर उन्होंने देखा कि वह तो निश्चिन्त होकर गहरी नींद में सो रहे हैं! तिलक ने खरे को यह कह कर बिदा कर दिया कि आप जमानत की बात कहने के लिए सुबह आते तो भी काम चल जाता।

३१ जुलाई को तिलक और बाळ प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट के सामने पेश किये गए। मुकदमे की प्राथमिक कार्रवाई और औपचारिक गवाहियों के बाद अदालत ने दोनों अभियुक्तों से कहा कि उन्हें कुछ कहना हो तो कहें। दोनों ने अपने ऊपर लगाये गए आरोपों को स्वीकार करने से इन्कार किया। मजिस्ट्रेट ने दोनों पर भारतीय दंड संहिता (ज़ाब्ता फौजदारी) की धारा १२४ 'अ' भंग करने का आरोप लगाकर मामले को सेशन्स के सिपुर्द कर दिया।

४ अगस्त को तिलक के बैरिस्टर श्री दावर ने न्यायमूर्त्ति बदरुद्दीन तैयबजी के सामने तिलक को ज़मानत पर रिहा करने के लिए फिर से अर्ज़ी पेश की। उसमें उन्होंने बतलाया कि "यह मुकदमा सेशन्स अदालत में अब कहीं सितम्बर में जाकर चलेगा, इसलिए अगर मेरे मुवक्किल को ज़मानत पर रिहा न किया गया, तो इसका यह मतलब होगा कि सरकार उन्हें अपने बचाव के लिए ज़रूरी सहूलियतें नहीं देना चाहती।" सरकार की ओर से इस दलील का विरोध किया गया लेकिन उसके बावजूद न्यायाधीश

ने तिलक को पचास हज़ार रुपये के मुचलके और पच्चीस-पच्चीस हज़ार रुपये की दो जमानतों पर रिहा करने का हुक्म दे दिया। मुकदमे की अगली तारीख ८ सितम्बर निश्चित की गई।

दूसरे दिन, यानी ५ अगस्त को, तिलक पूना आये। आते ही उन्हें पता चला कि उनके मित्र बाबा महाराज को हैज़ा होगया है। अतः वह शीघ्र ही उनके पास पहुंच गए।

बाबा महाराज पूना के एक जागीरदार थे। स्वभाव के उदार और सार्वजनिक प्रवृत्तियों में दिलचस्पी रखनेवाले थे। तिलक के साथ उनका बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था। पहली पत्नी से पुत्र न होने से और पत्नी के मर जाने पर उन्होंने सामान्य परिवार की एक नौजवान लड़की के साथ दूसरा विवाह किया। बाद में यही स्त्री ताई महाराज के नाम से पुकारी जाने लगी। उससे बाबा महाराज के एक कन्या हुई।

बाबा महाराज की गंभीर बीमारी और उनकी आर्थिक तथा पारिवारिक स्थिति का विचार करके तिलक ने उनको अपनी वसीयत कर देने की सलाह दी। बाबा महाराज ने वसीयत तो कर दी, किन्तु यह अनुरोध किया कि ट्रस्टियों में तिलक का नाम तो होना ही चाहिए। मरणशय्या पर पड़े हुए मित्र के अनुरोध को तिलक टाल न सके, और उन्होंने ट्रस्टी बनना स्वीकार कर लिया। इस आकस्मिक घटना के कारण तिलक को कई कष्ट झेलने पड़ें। इसके लिए उन्हें आर्थिक नुकसान सहना पड़ा, अपनी इज्ज़त को बचाने के लिए अदालत में मुकदमे लड़ने पड़े, तीव्र मानसिक वेदनाएं सहनी पड़ीं और मृत्यु पर्यन्त उन्हें उसके सम्बन्ध में कुछ-न-कुछ काम करना ही पड़ा।

८ अगस्त को बाबा महाराज का देहान्त हो गया।

राजद्रोह का मुकदमा सितम्बर में सेशन्स अदालत में शुरू होनेवाला था, इसलिए उसके खर्च की भी व्यवस्था करनी थी। तिलक की आर्थिक स्थिति इस समय बहुत साधारण थी। अतः मित्रों ने बचाव निधि एकत्र करने का निश्चय किया। बंगाल से भी कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मोतीलाल घोष आदि के द्वारा अच्छी सहायता मिली। निधि में लगभग ४७००० रुपये जमा हुए। लेकिन शुरू-शुरू में—बंबई जाते समय—

खर्च के लिए पास में कुछ रकम होना जरूरी थी। उस समय यह रकम आई नहीं थी। इसलिए उन्हें वासुदेवराव जोशी (वासुदेव काका) की मारफत छोटी-बड़ी रकमें उधार लेनी पड़ीं। तिलक का खयाल था कि मुकदमे में उन्हें लम्बी सजा होगी। इस खयाल से उन्होंने अपना वसीयतनामा भी लिख डाला। उसमें कर्ज़ की व्यवस्था का प्रश्न मुख्य था, और उनके बाद उनके परिवार की क्या दशा होगी इसका विचार आने पर वसीयत-नामा लिखानेवाले तिलक और लिखनेवाले उनके भानजे धोंडोपंत विद्वांस, दोनों की आँखें सजल होगईं।

मुकदमा शुरू होने पर बंबई की जनता को उसकी रोज की ताजी खबरें मिलती रहे, इस दृष्टि से 'केसरी' का स्वतन्त्र दैनिक संस्करण बंबई से भी निकालने का प्रबन्ध किया गया।

तिलक पर मुकदमा दायर हो चुकने पर उनके मित्र मोतीलाल घोष ने प्लेग के दिनों में लिखे हुए अपने उग्र लेखों के लिए, तिलक को माफी मांगने की सलाह भी दी। इस पर तिलक ने उन्हें जवाब दिया, "लोगों में मेरी जो प्रतिष्ठा है, वह केवल मेरे चरित्र के कारण है। इसलिए ऐसे मुकदमे से डर जाना मेरे लिए लज्जास्पद होगा। अगर मैं घबरा जाऊं तब तो महाराष्ट्र में रहूं या अन्डमान में, दोनों एक ही समान है।...हमें यदि राजनीति में पड़ना ही है, तो ऐसी जोखिम के लिए सदा तैयार रहना चाहिए।...उसका (सरकार का) उद्देश्य पूना के नेताओं को जनता की निगाह में गिराना है, परन्तु मुझे विश्वास है कि वह हमें बिल्कुल भी ढीला और पस्तहिम्मत नहीं पायगी। हमें यह भी याद रखना चाहिए कि आखिर किसी हदतक हम जनता के सेवक तो हैं ही। तब नाजुक वक्त आने पर यदि हम कायर होकर भाग खड़े होंगे तो यह उसके साथ विश्वासघात और द्रोह माना जायगा।"

८ सितम्बर १८९७ को न्यायाधीश मि० स्ट्रेची के इजलास में तिलक का मुकदमा शुरू हुआ। सबसे पहले तिलक और बाळ से उन पर लगाये गए अभियोग के बारे में यह सवाल पूछा गया कि क्या उन्होंने 'केसरी' पत्र के १५ जून के अंक में राजद्रोहात्सक लेख प्रकाशित करके भारत में कानून द्वारा स्थापित ब्रिटिश सरकार के खिलाफ लोगों में असन्तोष फैलाया

था या फैलाने का प्रयत्न किया था ? उन्हें इस आरोप के बारे में अपनी बात कहने का अवसर प्रदान किया गया।

दोनों ने अपने को निर्दोष बताया। इसके बाद जूरी का चुनाव हुआ। उनमें पांच अंग्रेज, एक यहूदी, एक पारसी और दो महाराष्ट्रीय थे। एडवोकेट जनरल मि० लेंग ने सरकार की तरफ से जूरी को मुकदमे का सार और उससे सम्बन्धित कायदे की भारतीय दंड संहिता की धारा १२४ 'अ' पढ़कर सुनाई और कहा कि इस धारा के मुताबिक इतना बता देना काफी होगा कि इस लेख में जान-बूझकर ऐसे शब्द इस्तेमाल किये गए थे कि उनसे प्रजा में सरकार के प्रति द्रोह तथा तिरस्कार की भावना पैदा हो। इसके बाद 'शिवाजीचे उद्‌गार' (शिवाजी के उद्‌गार), और 'श्रीशिवाजी राज्याभिषेकोत्सव' ये दो लेख पढ़े गए। पहला लेख 'भवानी तलवार' के उपनाम से किसी दूसरे आदमी की लिखी एक मराठी कविता थी। दूसरा लेख 'केसरी' में हाल ही शामिल होनेवाले श्री खाडिलकर का लिखा हुआ शिवाजी के राज्याभिषेकोत्सव का वर्णन था।

कविता का भाव यह था कि दो सौ वर्ष के बाद शिवाजी अपने देशवासियों के याद किये जाने पर स्वर्ग से धरती पर आते हैं। देश की निर्धनता देखकर उन्हें बड़ा दुःख होता है। वह देखते हैं कि देश के लोगों को शासकों से उचित न्याय नहीं मिलता। यदि कोई गोरा आदमी किसी को मार भी डाले तो मरनेवाले का ही दोष था—उसकी तिल्ली बढ़ गई थी आदि कारण पेश करके न्यायाधीश या जूरी उसे दोषमुक्त मानकर छोड़ देते हैं। स्त्रियों की इज्जत की रक्षा के लिए जहां उनके वक्त में हजारों तलवारें एक साथ म्यान से निकल आती थीं, वहां अब रेल में यात्रा करते समय कोई पुरुष किसी स्त्री का हाथ पकड़कर खींच लेता है। यह सब देखकर शिवाजी पूछते हैं, 'हे नपुंसको! तुम यह सब कैसे बर्दाश्त कर लेते हो ?' देशी राजा-महाराजाओं को बिल्कुल निर्वीर्य और शतरंज के प्यादे जैसे बने देखकर शिवाजी अपना दुःख प्रगट करते हैं। अन्त में शिवाजी अंग्रेज शासकों को यह संदेश देते हैं कि 'मैंने अपने समय में भारत के आतिथ्य धर्म का खयाल करके आपको यहां रहने दिया, वरना चाहता तो आपको अपने तराजू-कांटे के साथ आपके देश में वापस पहुंचा देता।

इसलिए कम-से-कम अब आप मेरे वंशजों के प्रति जरा न्याय और उदारता से काम लें।'

दूसरे लेख में १८९७ में पूना में मनाये गए शिवाजी राज्याभिषेक उत्सव की रिपोर्ट थी और उसपर पत्रकार की टिप्पणियां थीं। उसमें शिवाजी के द्वारा अफज़ल खां के वध का बचाव किया गया था और कहा गया था कि देश को स्वतन्त्र करने के लिए उनके जैसे महापुरुष द्वारा किये गए कार्यों का सामान्य नीति-नियमों के अनुसार मूल्यांकन नहीं किया जा सकता।

सारे मुकदमे में शब्दों के अर्थ और व्याकरण के प्रयोगों की बड़ी बारीकी से चर्चा हुई। मज़ेदार बात यह थी मूल लेख थे मराठी में और सरकारी एडवोकेट सहित न्यायाधीश तथा जूरी के अधिकांश सदस्यों को मराठी का ज्ञान बिल्कुल नहीं था! इस विचित्र तरीके से सारे मुकदमे की सुनवाई हुई।

१४ तारीख को न्यायाधीश स्ट्रेची ने जूरी को मुकदमे सार समझाया। इसके बाद जूरी के सदस्य अपना निर्णय करने के लिए एकांत में चले गए। करीब पौन घंटे के बाद जूरी ने अपना निर्णय प्रकट किया। जूरी के छह सदस्यों ने तिलक को दोषी माना और तीन ने निर्दोष। न्यायाधीश ने बहुमत का निर्णय मान्य रखा। इसके बाद तिलक से कहा गया कि दोष साबित होने के बावजूद यदि वह सजा न दिये जाने के लिए कुछ कहना चाहते हों तो कह सकते हैं। तिलक ने उत्तर दिया, "जूरी भले ही मुझे दोषी माने, पर मैं तो अपने को निर्दोष ही मानता हूं। राजद्रोह के लिए मैंने ये लेख नहीं लिखे, और न ही मुझे यह लगता है कि इनसे राजद्रोह हो सकता है। लेखों के शब्दों के अर्थ के बारे में मराठी के विद्वानों की की भी गवाही सरकार को अपनी ओर से लेनी चाहिए थी, जो नहीं ली गई है।"

न्यायाधीश ने तिलक को अठारह महीने की सख्त कैद की सजा सुनाई। अखबार के मुद्रक श्री बाळ को जूरी के एकमत से निर्दोष माना था, अतः उन्हें बरी कर दिया गया।

तिलक को सज़ा हो जाने के बाद यह समस्या खड़ी हुई कि 'केसरी'

तथा 'मराठा' के प्रकाशन की क्या व्यवस्था की जाय। आर्यभूषण प्रेस के व्यवस्थापकों ने पत्र छापने से इन्कार कर दिया और यह सलाह दी कि जबतक तिलक रिहा होकर न आ जायं तबतक पत्र बंद रखे जायं। लेकिन पत्र के संचालकों को यह बात पसंद नहीं आई। इसलिए उनके प्रकाशन की व्यवस्था दूसरे प्रेस में की गई। दफ्तर के तथा अन्य सारे काम के लिए तिलक का मकान काम आया। एक चबूतरे पर देवदार के दो बड़े बक्स रखकर धोंडोपंत विद्वांस ने कार्यालय स्थापित कर दिया और दोनों पत्र बिना किसी रुकावट के प्रकाशित होते रहे।

तिलक और उनकी मित्रमंडली ने स्ट्रेची के फैसले के खिलाफ प्रिवी कौंसिल में अपील करने का निश्चय किया। उसके लिए दाजी खरे २ अक्तूबर को, और उनकी सहायता के लिए सॉलिसिटर कांगा सारे दस्तावेजों के साथ १५ अक्तूबर को, इंगलैण्ड के लिए रवाना हुए। १९ नवम्बर १८९७ से अपील की सुनवाई शुरू हुई। तिलक की ओर से उदार दल के नेता एस्क्विथ ने वकालतनामा दाखिल किया था। लेकिन प्रिवी कौंसिल में अपील रद्द हो गई और स्ट्रेची का फैसला बहाल रखा गया।

इसी वर्ष दिसम्बर के अन्त में अमरावती में कांग्रेस का तेरहवां अधिवेशन हुआ। अधिवेशन में तिलक की सज़ा के बारे में सीधा प्रस्ताव तो नहीं पेश किया गया, किन्तु फिर भी अध्यक्ष श्री शंकर नायर ने पूना की दमन-नीति, नातु-बन्धुओं की बिना जांच के गिरफ्तारी और तिलक को दी गई सजा की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। प्रचलित न्याय-पद्धति के कारण लोकमान्य के साथ अन्याय हुआ है, यह बात उन्होंने उदाहरण और दलील देकर सिद्ध कर दी।

नातु-बन्धुओं की गिरफ्तारी के विरोध के प्रस्ताव पर बोलते हुए सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कहा, "पूना में जो प्यूनिटिव पुलिस रखी गई है, वह बिल्कुल गैरज़रूरी है और ऐसी पुलिस रखना एक बड़ी भूल है। तथा इससे भी बड़ी भूल है श्री तिलक और पूना के अन्य पत्रकारों को कैद में रखना। श्री तिलक के प्रति मेरा हृदय सहानुभूति से भर गया है। सारे राष्ट्र की आँखों से आँसू बह रहे हैं।"

सारी सभा ने खड़े होकर तिलक का जय-जयकार किया। इससे तिलक की प्रतिष्ठा सारे भारत में फैल गई।

जेल में तिलक को काफी परेशान होना पड़ा। उन्हें प्याज़ आदि से घृणा थी, अतः केवल कोरी रोटी खानी पड़ती थी। दूध-घी तो कहां से नसीब होता! इसलिए उनका वजन तेजी से घटने लगा। जो वजन पहले १३५ पौंड था, वह अब केवल १०५ पौंड रह गया। कमरे और वस्त्रों की गंदगी का उनकी तबीयत पर भी खराब असर होने लगा। तिलक को सख्त कैद की सज़ा दी गई थी। इसलिए उनसे मशक्कत का कोई-न-कोई काम अवश्य कराया जाता था; उन्हें नारियल की रस्सी बंटने का काम दिया गया।

तिलक के स्वास्थ्य के समाचार अलग-अलग स्रोतों से जेल के बाहर पहुंचने लगे। इससे जनता में बड़ी चिंता फैल गई। यह तो आशा थी ही नहीं कि सरकार को इस बारे में प्रार्थना-पत्र देने का कोई परिणाम निकलेगा। अतः तिलक के एक वकील श्री सेटलूर ने, जो बंबई में रहते थे, इस बारे में हॉवर्ड एसोसिएशन को पत्र लिखे। यह एक ब्रिटिश संस्था थी और इंगलैण्ड की जेलों के सुधार में दिलचस्पी रखती थी। शायद इसीके फलस्वरूप थोड़े ही दिनों में तिलक का डोंगरी जेल से भायखला जेल में तबादला कर दिया गया और वहां से उन्हें यरवदा जेल भेज दिया गया। खुराक में भी अब उन्हें थोड़ा दूध और घी दिया जाने लगा और मशक्कत के काम में रस्सी बांटने के बजाय अब उन्हें कालीनों के लिए सूत और ऊन रंगने का काम दिया गया।

रंगाई का काम तिलक ने बड़ी दिलचस्पी से शुरू किया और कई प्रयोग करके उन्होंने उनके नुसखे लिख लिये। रिहाई के बाद जब कोई व्यक्ति उनसे इन नुसखों के बारे में पूछता तो वह मुसकराते हुए कहते, "मेरा रंगशास्त्र का ज्ञान जेल में बैठकर काम करने पर ही फल देता है। मैं जानकारी तो जरूर दे दूंगा, पर क्या आप जेल जाने को तैयार हैं?"

जेल मेन्युअल में यह स्पष्ट लिखा हुआ था कि जेल के नियम आदि कैदी को सुधारने के लिए नहीं, बल्कि उसे सज़ा देने के लिए हैं। उन दिनों राजबन्दियों का कोई अलग वर्ग भी नहीं था। इसलिए जिस प्रकार

का बर्त्ताव चोरी, डाके तथा खून आदि के मामलों के कैदियों के साथ किया जाता था, वैसा ही बर्त्ताव तिलक जैसे कैदियों के साथ भी किया जाता था। फिर कैदी के शरीर पर कोई शोभा की चीज तो रह ही कैसे सकती थी! इसकी एक मनोरंजक घटना जानने योग्य है। एक बार तिलक ने अपने घर से दक्षिणी जूते मंगवाये। ये जूते अक्सर चटकीले लाल रंग के होते हैं। पर जेल में ऐसे खूबसूरत जूते किसी कैदी को कैसे दिये जा सकते थे! इसलिए पहले उन पर काला रंग चढ़ा दिया गया। इसके बाद ही वे तिलक को दिये गए।

तिलक की गिरफ्तारी और उन्हें सजा हो जाने के बाद रैण्ड की हत्या के सिलसिले में दामोदर चापेकर को फांसी की सजा दे दी गई थी। तिलक के साथ इस खून का कोई सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सका। इतना ही नहीं, सरकार को यह भी पता लग गया कि इस खून के पीछे कोई षड्यन्त्र भी नहीं था। इसलिए पूना में जो प्यूनिटिव पुलिस रखी गई थी, उसे उठा लिया गया। अतः तिलक को भी अब कैद रखना बिल्कुल अनुचित और अन्यायपूर्ण था। अखबारों में उनकी रिहाई की मांग के पत्र छपने लगे। रिहा कराने के लिए प्रो॰ मैक्समुलर, सर विलियम हंटर, दादाभाई नौरोजी आदि ने एक प्रार्थना-पत्र भारत-सचिव के पास भेजा। पर उसका कोई तात्कालिक परिणाम नहीं निकला।

गिरफ्तारी के पांच वर्ष पूर्व तिलक की 'ओरायन' नामक पुस्तक के सम्बन्ध में प्रो॰ मैक्समुलर का तिलक से कुछ पत्र-व्यवहार हुआ था। उन्हें यह जानकर दुःख हुआ कि तिलक जैसा विद्वान राजद्रोह के अभियोग में जेल में सड़ रहा है। उन्होंने अपने द्वारा संपादित 'ऋग्वेद' की एक प्रति तिलक को उपहार में भेजी और यह भी कहा कि उन्हें छुड़ाने के लिए अगर कोई सरकार से निवेदन करेगा तो मैं भी अपनी तरफ से सरकार को समझाने की पूरी कोशिश करूंगा।

मैक्समुलर की तिलक को भेंट की हुई पुस्तक जेल में पहुंची। मि॰ सोलोमन नामक एक एम॰ ए॰ पास विद्या-रसिक व्यक्ति जेल-सुपरिन्टेंडेण्ट थे। जिस व्यक्ति को स्वयं मैक्समुलर अपनी पुस्तकें भेंट-स्वरूप भेजता है, वह हमारी जेल का एक कैदी है, यह जानकर उनके मन में

उस कैदी के प्रति सहज ही सद्भाव पैदा हुआ। उन्होंने तिलक के पढ़ने के लिए रात को दस बजे तक रोशनी की विशेष व्यवस्था कर दी और जेल के दवाखाने में उनके भोजन का विशेष प्रबन्ध करा दिया।

सज़ा का एक वर्ष पूरा होने जा रहा था। तिलक को छुड़ाने की एक बार फिर कोशिश शुरू हुई। सरकार ने यह शर्त्त लगाई कि अपनी रिहाई के लिए तिलक स्वयं मांग करें। तिलक ने यह शर्त्त पूरी कर दी। लेकिन बाद में सरकार ने यह इच्छा प्रकट की कि तिलक यह लिखकर दें कि भविष्य में वह कभी राजनीति में भाग नहीं लेंगे और रिहाई के बाद किसी प्रकार के सत्कार-समारम्भों में शामिल न होंगे। इसकी दूसरी शर्त्त तो तिलक ने तुरन्त स्वीकार कर ली। किन्तु पहली शर्त्त के बारे में उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि वह स्वीकार नहीं की जा सकती। इससे तिलक की पहले रिहाई होने की कोई संभावना खत्म हो गई।

इसके बावजूद तिलक के मित्र श्री खरे और पुलिस अधिकारी श्री ब्रुईन दोनों तिलक से बातचीत करने बार-बार यरवदा जाने लगे। आखिर तिलक ने यह शर्त्त मान ली कि अगर वह दुबारा राजद्रोह का अपराध करेंगे तो उन्हें अपनी इस सजा के शेष छह महीने की सज़ा और भोगनी होगी। इसके बाद ६ सितम्बर १८९७ को रात के दस बजे तिलक जेल से रिहा कर दिये गए।

तिलक की रिहाई की खबर तुरन्त ही चारों ओर फैल गई। बंबई के एक अंग्रेजी दैनिक में प्रकाशित समाचार के अनुसार दूसरे दिन कोई दस हजार आदमी गायकवाड़ बाड़े में तिलक से मिलने आये होंगे। मंदिरों में दीपक जलाये गए। देश-विदेश से आये हुए अभिनन्दन पत्रों और तारों का ढेर लग गया। तरह-तरह से खुशियां मनाई गईं और जलसे किये गए। लेकिन तिलक शर्त्त से बंधे हुए थे, अतः वह उनमें शामिल नहीं हुए। लोगों को इन समारोहों में उनकी अनुपस्थिति अवश्य कुछ खटकी।

: २६ :

रिहाई के बाद

कारावास से मुक्त होने के बाद स्वास्थ्य-सुधार के लिए तिलक डेढ़-दो महीने सिंहगढ़ जाकर रहे। दिसंबर के अन्त में कांग्रेस-अधिवेशन में सम्मलित होने के लिए वह मद्रास गए। वहां अधिवेशन में उन्होंने कोई भाषण वगैरा नहीं किया। इससे उनके विरोधियों ने उनके बारे में अनेक प्रकार की शंकाएं प्रकट करना शुरू कर दिया। इसी सम्बन्ध में एक पत्र के संवाददाता को भेंट में उन्होंने बताया, "अपने अस्वास्थ्य के कारण ही मैं कहीं नहीं बोला; क्योंकि एक बार बोलना शुरू करने पर भाषण देने के निमंत्रणों को मैं टाल नहीं सकता। सभा में भाषण वगैरा न करने का सरकार से मैंने कोई वादा नहीं किया है।" संवाददाता ने पूछा, "अब आप आगे क्या करना चाहते हैं ?" तिलक ने कहा, "आजतक जो कुछ करता आया हूं वही आगे भी करूंगा।"

मद्रास कांग्रेस के बाद तिलक लंका (सीलोन) हो आये। लंका के लोगों की सामाजिक स्थिति देखकर उन्होंने कहा कि भारत में जिन सामाजिक सुधारों को करने के लिए सुधारक लोग इतना परिश्रम करते हैं, और वे सब सुधार लंका में ईसाई मिशनरियों के तीन-सौ वर्ष के सहवास से, या यों कहिये जोर-जबर्दस्ती से हो चुके हैं। इसके परिणामस्वरूप वहां के लोगों का अपने धर्म, राष्ट्र व संस्कृति विषयक अभिमान बिल्कुल नष्ट हो गया है। इस अभिमान को जाग्रत करना वहांके समाज-सुधार का एक महत्त्व का अंग बन गया है।

तिलक फरवरी में लंका से पूना लौट आये। उस समय मि० रैण्ड की हत्या से संबंधित दूसरे अपराधी बालकृष्ण चापेकर का मुकदमा सेशन के सुपुर्द हो चुका था। किन्तु जिन द्रविड़ भाइयों ने बीस हज़ार रुपये के इनाम के लालच से बालकृष्ण को पकड़वाया था, उनका तारीख ८ फरवरी की रात को बालकृष्ण के छोटे भाई वासुदेव ने अपने दो मित्रों की सहायता से खून कर डाला। इस प्रकार १८९७ में जो हत्याकाण्ड हुआ था, उसीका पुनरावर्त्तन होगया। एंग्लो-इण्डियन अखबारों ने अपनी

हमेशा की आदत के अनुसार इस घटना के साथ तिलक का संबंध जोड़ दिया। इंगलैण्ड के अनुदार पत्र 'ग्लोब' ने बंबई के होनेवाले गवर्नर लॉर्ड नॉर्थकोट को सलाह देते हुए लिखा, "खून की जो यह परम्परा इलाके में चल रही है, उसके पीछे तिलक की प्रेरणा निश्चित ही होगी। बंबई इलाके में राजद्रोह के जो भयानक षड्यंत्र चल रहे हैं, उनके मुखिया तिलक ही हैं। इसलिए पूना के ब्रह्मणों पर आप बिल्कुल भरोसा न करें।"

'ग्लोब' के इस लेख का अवतरण 'टाइम्स ऑफ इंडिया' ने भी प्रकाशित किया। तिलक ने इसके कारण पहले 'टाइम्स ऑफ इंडिया' पर, तथा बाद में अपने सॉलिसिटर द्वारा इंगलैण्ड के हाई कोर्ट में 'ग्लोब' पर मानहानि का दावा दायर कर दिया। दोनों पत्रों ने तिलक से माफी मांग ली। और इस प्रकार इस मुकदमे का अन्त हो गया।

रानडे को जब यह बात मालूम हुई तो उन्होंने तिलक की दृढ़ता और हिम्मत की खूब तारीफ की।

४ जुलाई १८९९ को, अर्थात् दो वर्ष के बाद, तिलक ने 'केसरी' के सम्पादक की हैसियत से फिर काम करना शुरू किया और "पुनश्च हरिः ॐ" शीर्षक से एक लंबा लेख लिखा। उन्होंने लिखा, "राजद्रोह के मुकदमे के समय सारे देश ने द्रव्य तथा और दूसरी सहायता देकर मेरे लिए देव, ऋषि एवं पितृ-ऋण के अलावा एक चौथा लौकिक ऋण पैदा कर दिया है। आजतक जिस प्रकार से मैंने अपना जीवन बिताया है, उसी तरह आगे भी बिताने का बंधन मेरे लिए—इस ऋण के कारण—अनिवार्य हो जाता है।"

नरम पक्ष के लोगों को सम्बोधन करते हुए उन्होंने लिखा, "दो वर्ष पहले पूना में जब डकन सभा की स्थापना हुई थी, उस समय 'मॉडरेशन' का एक नया राजनैतिक सम्प्रदाय हमारे देश में उत्पन्न हुआ। उस समय हमने जो आशंकायें प्रकट की थीं उनके अनुसार ही परिणाम निकला है। उसके लिए दुःख न करके, अब आगे क्या करना चाहिए, यही हमें सोचना है। प्लेग के कारण तथा सरकार की उग्र दमन नीति के कारण पूना की सारी सार्वजनिक प्रवृत्तियां स्थगित-सी होगई हैं। उनमें अगर जागृति पैदा करनी है, तो पहले हमें अपने अन्दर एकता स्थापित करना

जरूरी है। हम नरम और गरम दल के लोग एक-दूसरे को कौआ कहकर निन्दा भले ही करलें; पर हम दोनों को थप्पड़ जमानेवाली नौकरशाही का गरुड़ हमारे सिर पर मंडरा रहा है, इसे हम न भूलें। नरम-गरम दोनों साथ बैठकर यह तय करें कि आगे हमें किस दिशा में जाना है। मौजूदा परिस्थिति में हमारा यही आवश्यक कर्त्तव्य है।"

किन्तु तिलक के इस निवेदन का नरम लोगों पर कोई असर न हुआ। फरवरी १९०१ में लॉर्ड सैंडहर्स्ट निवृत्त होनेवाले थे। इसलिए उन्हें मानपत्र देने की एवं उनका स्मारक बनाने की बात बंबई के नरमदली नेताओं ने शुरू की। तिलक को यह बात पसंद नहीं आई। उन्होंने लखनऊ की कांग्रेस में लॉर्ड सैंडहर्स्ट के कारनामों की टीका करते हुए एक प्रस्ताव पेश किया। कई नेताओं ने इसका विरोध किया। काफी गरमा-गरम चर्चा हुई। नौबत यह आगई कि प्रस्ताव पास होने की संभावना पैदा होगई और इसके विरोध में कांग्रेस के अध्यक्ष श्री दत्त इस्तीफा देने को तैयार होगए। अतः प्रस्ताव वापस ले लिया गया।

लखनऊ अधिवेशन के समाप्त होने पर तिलक वहां से कलकत्ता गए। और वहां से अपने मित्र प्रो० छत्रे के निमंत्रण पर वासुदेव राव जोशी के साथ ब्रह्मदेश गए।

इसी अर्से में पूना में प्लेग शुरू हुआ। उसके प्रतिबंधक इलाज के तौर पर हाफकिन नाम के डॉक्टर ने इनॉकुलेशन (टीका) देने की शुरुआत की। इस इलाज को पूरा असरकारक मानकर सरकार ने उसका प्रचार शुरू किया। इनॉकुलेशन से तिलक को तात्त्विक विरोध नहीं था, किंतु उनका आग्रह यह था कि यह इलाज अभी प्रायोगिक अवस्था में है। इस कारण लोगों पर उसके लिए जबरदस्ती नहीं की जानी चाहिए। बंबई के डॉक्टर भालचन्द्र इस इलाज की खूब हिमायत करने लगे; इससे तिलक को उनके साथ काफी वाद-विवाद करना पड़ा। वैज्ञानिक विषय होने के कारण तिलक ने उसका खास तौर से अध्ययन किया और 'केसरी' द्वारा इनॉकुलेशन के इलाज के दोष दिखाये। कर्नाटक में इस इलाज से कितना अनर्थ हुआ था, उसका विवरण वहां काम करनेवाले श्री गुरुजी की रिपोर्ट के आधार पर उन्होंने तैयार किया और टीका लगाने के बारे में उतावली

या जबरस्ती का कड़ा विरोध किया। कुछ समय के बाद इसकी जांच करने के लिए सरकार ने एक आयोग नियुक्त किया। तिलक की टीका को उसने स्वीकार किया और २२ फरवरी सन् १९०० के दिन बंबई सरकार ने एक आज्ञा-पत्र निकाला कि इनॉकुलेशन के बारे में किसी पर भी जबरदस्ती नहीं की जायगी।

ब्रह्मदेश की यात्रा से तिलक फरवरी के आखिर में पूना वापस आगए और फिर अपनी विविध प्रवृत्तियों में लग गये।

इसी समय उन्होंने पंचांग-संशोधन या शास्त्रीय पंचांग बनाने का कार्य शुरू किया। हमारे यहां पंचांग तो कई प्रचलित हैं, किन्तु उनमें से एक भी वैज्ञानिक दृष्टि से शुद्ध तथा पूर्ण नहीं हैं। अध्यापक छत्रे हमेशा कहा करते थे कि शुद्ध व निर्दोष पंचांग बनाना एक राष्ट्रीय महत्त्व का काम है। इसी वर्ष मई महीने में तिलक ने खगोल शास्त्रियों की एक परिषद् बुलाई और पंचांग संशोधन का कार्य आरम्भ किया।

इसी महीने में प्रांतीय परिषद् का सतारा में अधिवेशन हुआ। इस परिषद् के अवसर पर श्री अंताजी दामोदर काळे नामक सज्जन ने पैसा-फंड की योजना पेश की। तिलक ने उसको अपनाया और उसका प्रचार भी शुरू किया। उनके प्रचार के कारण यह योजना महाराष्ट्र में बहुत ही लोकप्रिय बन गई।

नवंबर के शुरू में प्रो० मैक्समुलर का देहान्त हुआ। मैक्समुलर प्राच्य विद्या के प्रकांड पंडित तथा आजन्म विद्या के उपासक थे। 'सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट' नामक जगतविख्यात ग्रंथमाला के संपादन-कार्य द्वारा उन्होंने पूर्वी धर्म, तत्त्वज्ञान व संस्कृति की भारी सेवा की थी। उनकी मृत्यु के समाचार से तिलक को बड़ा दुःख हुआ। उनके विषय में तिलक का लेख सबसे अच्छे लेखों में माना जाता है। साथ ही उसमें भारतीय प्राचीन विद्या एवं संस्कृति के विषय में तिलक का अपना अभिमान भी प्रतिबिंबित होता है। उन्होंने लिखा, "मैक्समुलर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की वृत्ति रखते थे, श्वान व चाण्डाल के प्रति समान दृष्टि रखनेवाले सच्चे पंडित थे और इसी कारण राजा-महाराजाओं से भी श्रेष्ठ थे, क्योंकि 'स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते'।"

दिसम्बर के अन्त में लाहौर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। विषय निर्वाचिनी समिति में तिलक को फिरोजशाह मेहता का विरोध करना पड़ा। उसका लाला लाजपतराय तथा विजय राघवाचारियर पर अच्छा असर हुआ और वे तिलक के साथ सहमत हुए। खुले अधिवेशन में 'अकाल और हमारी दारिद्रता' पर तिलक ने प्रभावशाली भाषण दिया।

यह लार्ड कर्ज़न का जमाना था। शिक्षा पर सरकारी नियंत्रण बढ़ाने की कार्रवाई शुरू हो चुकी थी। लेकिन बंबई सरकार के शिक्षा विभाग के अधिकारी मि० जाइल्स तो कई बरसों से ही चारों ओर राजद्रोह देखने लगे थे। १८९७ में शिवाजी-उत्सव पर दिया गया फर्ग्यूसन कॉलेज के प्रो० भानु का भाषण राजद्रोह-पूर्ण है, ऐसा कहकर उन्होंने डकन एजुकेशन सोसायटी पर दबाव डालकर उनको नौकरी से अलग करा दिया। एक परिपत्र निकालकर इस प्रकार के उत्सवों में विद्यार्थियों एवं शिक्षकों को भाग लेने से मना कर दिया गया। भारतीय भाषाओं की पुस्तकों की समालोचना करते हुए मलबारी जैसे बिल्कुल राजनिष्ठ लेखकों की कविताओं पर भी राजद्रोह का आरोपण किया गया। जाइल्स की इस प्रवृत्ति की तिलक ने खूब निन्दा की। लेकिन उन्होंने इस बात पर भी दुःख प्रकट किया कि "सरकार का सामना करने के लिए स्थापित हमारी डकन एजुकेशन सोसायटी सरकारी अनुदान के लालच में पड़कर एकदम इतनी लाचार बन गई और अपने कर्मचारियों पर चाहे जैसे वाहियात बन्धन डालने के लिए तैयार हो गई।"

मई में बंबई सरकार ने मालगुजारी कानून में संशोधन करने के लिए एक बिल प्रकाशित किया। सरकार की ओर से उसका उद्देश्य यह बताया गया कि किसानों की जमीन कर्ज़ की वजह से साहूकारों के कब्जे में न जाये, इसका प्रबन्ध करना है। किन्तु उसका अन्दरूनी उद्देश्य इससे भिन्न है, उसे पहचानकर तिलक ने 'केसरी' में उसकी खूब कड़ी टीका की और लोगों के सामने सरकार की पोल खोल दी। लेकिन सरकार ने लोगों के तीव्र विरोध एवं अपने कौन्सिलरों की राय की अवमानना करके बिल को उसके मूल रूप में ही स्वीकार कर लिया। सर फिरोज़शाह मेहता, गोखले आदि नेता सरकार के कार्य के विरोध में

कौन्सिल से बाहर निकल आये। इस पर एंलो-इण्डियन अखबारों ने उनका बड़ा मजाक उड़ाया। तिलक ने इन पत्रों को खूब आड़े हाथों लिया। कौन्सिसरों का समर्थन करके उन्होंने सरकार की और भी कड़ी टीका की। उन्होंने लिखा, हमें ऐसा मालूम होता है कि जहां दुरभिमान का साम्राज्य मौजूद हो और सयानापन जहां से विदा ले चुका हो, तथा जहां केवल बाहुबल के जोर पर कूटनीति के काम करने को लोग तत्पर हो जाते हों, वहां से निकल जाने के सिवा भले आदमियों के लिए और कोई मार्ग रह नहीं जाता। जनता के प्रतिनिधियों को कौन्सिल में बुलाकर उनका इस प्रकार अनादर करने के बजाय बेहतर यह होगा कि सरकार पांच-छह पत्थर की मूर्त्तियां बनवाकर कौन्सिल में भिन्न-भिन्न स्थानों पर स्थापित कर दे और चुनाव समाप्त हो जाने पर इन मूर्त्तियों में से एक को फिरोज़शाह की टोपी, और दूसरी को गोखले की पगड़ी पहनाकर अपना काम निकाल लिया करे। श्राद्ध-पूजा आदि में जिस प्रकार प्रत्यक्ष ब्राह्मणों के बदले दर्भ के 'चट' बैठाकर कार्य सम्पन्न किया जाता है, उसी तरह इन बुतों के जरिये कौन्सिल का खेल भी सरकार पूरा कर सकती है।

: २७ :

अग्नि-परीक्षा

हम देख चुके हैं कि तिलक जब राजद्रोह के पहले मुकदमे में जमानत पर रिहा होकर आये थे तब उन्हें अपने मित्र बाबा महाराज की जायदाद का ट्रस्टी बनना पड़ा था। जिस समय तिलक जेल में थे, ताई महाराज ने एक पुत्र को जन्म दिया। किन्तु वह थोड़े ही महीनों में मर गया और ताई महाराज की तबियत दिन-पर-दिन बिगड़ती ही चली गई। तिलक ने जेल से निकलने के बाद परिस्थिति देखकर यह तय किया कि यह ज़रूरी है कि किसी अच्छे से लड़के को ताई महाराज गोद ले लें। अन्य ट्रस्टी भी उनके साथ सहमत थे। किन्तु कौनसा और कहां का लड़का गोद लिया जाय, इस बारे में ट्रस्टियों के बीच मतभेद होगया। आखिर औरंगाबाद की

तरफ़ का लड़का गोद लेना तय हुआ और २९ जून १९०१ को तिलक, खापर्डे और ताई महाराज औरंगाबाद गए और जगन्नाथ नाम के एक लड़के को ताई महाराज ने गोद ले लिया। इधर पूना में नागपुरकर ने इन लोगों की गैरहाज़री में ट्रस्टियों के गोद लेने के प्रस्ताव के नीचे अपनी असहमति सूचक एक नोट लिख दिया और इस प्रकार एक षड्यंत्र की बुनियाद डाल दी।

तिलक ने औरंगाबाद से लौटने पर पूना के जागीरदारों के एजेण्ट मि० एस्टन को—जो वहां के डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट भी थे—पत्र लिखकर जगन्नाथ के गोद लिये जाने की खबर दे दी।

इधर नागपुरकर ताई महाराज को एस्टन के पास ले गए और उन्होंने भी यह सोचकर कि ब्रिटिश सरकार के शत्रु तिलक को परेशान करने का यह अच्छा मौका है, ताई महाराज को सलाह-मशविरा देना शुरू किया। उसके अनुसार ताई महाराज ने ट्रस्टियों को नोटिस दिया कि उन्हें पुत्र हुआ था और उसके गुजर जाने से वह खुद बाबा महाराज की जायदाद की वारिस बन जाती हैं और इस प्रकार ट्रस्ट-डीड का अन्त अपने-आप हो जाता है। ऐसी हालत में ट्रस्टियों को उनकी जायदाद के बारे में कुछ करने का अधिकार नहीं है।

ताई महाराज ने इधर ट्रस्टियों को यह नोटिस दिया उधर ट्रस्टियों की ओर से मिले प्रोबेट को रद्द करने के लिए डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट को एक अर्ज़ी दे दी। साथ ही कोल्हापुर के महाराज को भी अर्ज़ी देकर दूसरा लड़का गोद लेने के लिए उनकी इजाज़त मांगी, जो उन्हें तुरंत मिल गई। ताई महाराज ने कोल्हापुर के बाळा महाराज को गोद लेने का निश्चय किया और उसे पूना बुलाया। किन्तु पूना में तिलक आदि ट्रस्टियों के रहने से वह काम न हो सका। इसलिए ताई महाराज स्वयं कोल्हापुर गईं और वहां उन्होंने बाळ महाराज को गोद ले लिया।

तिलक ने इस कार्य के विरुद्ध तथा औरंगाबाद की गोद लेने की रस्म कायम रखने और कोल्हापुर का दत्तकग्रहण रद्द करने के लिए पूना के फर्स्ट क्लास मजिस्ट्रेट की अदालत में अर्जी दी। इस अर्ज़ी का काम एक ओर रखकर मि० एस्टन ने ताई महाराज की प्रोबेट रद्द करने

के लिए दी हुई अर्ज़ी का काम पहले हाथ में लिया। उसीके साथ उन्होंने बाळ महाराज के भाई पंडित महाराज एवं ताई महाराज द्वारा तिलक पर लगाये हुए अन्य आरोपों को भी साथ मिला दिया। तिलक पर निम्नलिखित इलज़ाम लगाये गए—

१. तिलक ने झूठी गवाही दी है।

२. उन्होंने बनावटी दस्तावेज तैयार किये हैं।

३. उन्होंने ताई महाराज को नजर-कैद-सा कर रखा था।

४. उन्होंने नागपुरकर पर झूठे इलजाम लगाये थे।

ये मुद्दे प्रोबेट के मुकदमे में दाखिल करने का तिलक ने विरोध किया, किन्तु एस्टन ने इन सबके बारे में जांच शुरू कर दी। औरंगाबाद के दत्तक-ग्रहण के बारे में ३ अप्रैल १९०२ को लम्बा-चौड़ा फैसला देकर उन्होंने ऊपर बताये आरोपों के लिए उन पर मुकदमा चलाने का सिटी मजिस्ट्रेट को आदेश दिया और प्रोबेट रद्द कर दिया।

मि० एस्टन के इस फैसले पर तिलक ने हाई कोर्ट में अपील की। अपील में एस्टन के निर्णय को उलट दिया गया और प्रोबेट को कायम रखा गया। किन्तु सरकार इससे पीछे नहीं हटी और उसने तिलक पर फौजदारी आरोपों के लिए मुकदमा चलाने के लिए मि० क्लेमेंट्स को स्पेशल मजिस्ट्रेट नियुक्त किया। २ अक्तूबर को यह मुकदमा शुरू हुआ। मि० क्लेमेंट्स ने २४ अगस्त १९०३ को मुकदमे का फैसला दिया और तिलक को डेढ़ वर्ष की सख्त कैद और एक हज़ार रुपये जुर्माने की सज़ा दी। इसके बाद तिलक को हथकड़ी डालकर जेल ले जाया गया। इस प्रकार उनका अपमान करके सरकारी अधिकारियों ने संतोष मान लिया। यह प्रसंग तिलक के सारे जीवन में सबसे बुरा था। किंतु ऐसे समय पर भी अपने मन का संतुलन कायम रखकर और मि० क्लेमेंट्स के फैसले की पहले से ही कल्पना करके, उन्होंने अपील करने के लिए अर्ज़ी तैयार कर रखी थी। फैसला होते ही वह पूना के सेशन्स जज की अदालत दाखिल कर दी गई। दो-चार घंटे जेल में रहकर तिलक घर आगए। ४ जनवरी १९०४ को अपील का फैसला हुआ। उसके अनुसार उनकी डेढ़ बरस की सज़ा घटाकर छह महीने की कर दी गई। इसके

विरुद्ध भी तुरन्त हाई कोर्ट में अपील की गई। अपील की पेशी न्यायमूर्त्ति जेन्किन्स तथा बेटी के इजलास में हुई और उन्होंने ४ मार्च १९०४ को तिलक को सब आरोपों से मुक्त कर दिया। लगभग ढाई वर्ष तक तिलक को इस मुकदमे के कारण जो पीड़ा तथा मानसिक क्लेष भुगतना पड़ा था, उसका इस प्रकार अन्त हुआ और उनका चरित्र निष्कलंक और खरा साबित हुआ।

इस सारे मामले में सरकार ने अत्यधिक दिलचस्पी ली थी। इसमें उसका हेतु तिलक को चरित्रहीन व्यक्ति बताकर समाज की निगाह में गिराना था। सरकार अपने राजनैतिक दुश्मन को पहचान चुकी थी और उसे भले-बुरे किसी भी उपायों से खतम करना चाहती थी। इसी वजह से उसने ज़िम्मेदार अधिकारियों की राय की अवमानना करके एक व्यक्तिगत मुकदमे में दखल दिया और उसके लिए लगभग साठ हजार रुपये बरबाद किये और तिलक को भी करीब तीस हजार रुपये का नुकसान पहुंचाया। इसमें केवल आर्थिक लाभ-हानि का सवाल होता तो भी एक ट्रस्टी की हैसियत से तिलक ने जो काम अपने ज़िम्मे लिया था, उसे पूरा किये बिना छोड़ना उनके लिए असम्भव था। पर मौजूदा मामले में तो उनके चरित्र पर भी आक्षेप किये गए थे। इससे अपने 'यशःकाय' को सुरक्षित रखने के लिए उन्होंने संकट झेलकर अपने तन-मन-धन की आहुति देना स्वीकार किया।

इस सारे मामले में तिलक ने जिस निःस्वार्थ भाव से काम किया, उसका सबूत ताई महाराज के शब्दों से ही मिलता है। ट्रस्टी नागपुरकर के भतीजे के साथ बातचीत करते हुए उन्होंने कहा था, "अरे भाई, हमारे यहां से तो तिलक ने कभी घास का एक तिनका भी नहीं लिया।"

कोल्हापुर का दत्तकग्रहण रद्द करके औरंगाबाद का कायम रखने के लिए सितम्बर १९०१ में तिलक ने जो दावा किया था, उसकी पेशी तिलक के फौजदारी आरोपों से मुक्त होने के बाद शुरू हुई और ३१ जुलाई १९०६ को कोर्ट ने तिलक के पक्ष में फैसला दिया। इस फैसले पर बाळ महाराज ने (ताई महाराज १९०३ में ही गुज़र गई थीं) हाई कोर्ट में अपील की। उसकी पेशी चार वर्ष के बाद न्यायमूर्त्ति चन्दावरकर तथा

हीटन के सामने हुई। उन्होंने औरंगाबाद का दत्तकग्रहण गैर-कानूनी ठहराया। चन्दावरकर ने तिलक पर अप्रमाणिकता का आरोप लगाते हुए कहा कि द्रव्य-लोभ की तरह ही अधिकार-लोभ से प्रेरित होकर मनुष्य अप्रमाणिकता का बर्त्ताव करता है। तिलक उस वक्त माण्डले की जेल में थे। किंतु वहां से भी उन्होंने प्रिवी कौन्सिल में अपील करने की सूचना तथा अपील का मसविदा बनाकर भेजा। प्रिवी कौन्सिल के द्वारा उनकी दलील का पूरी तरह समर्थन हुआ। न्यायमूर्त्ति चन्दावरकर के फैसले की टीका करते हुए प्रिवी कौन्सिल ने कहा कि वे भले ही विद्वान हों, किन्तु ट्रस्टियों पर उन्होंने जो आरोप लगाया है, वह बिल्कुल अनुचित है। तिलक का असली दावा उन्होंने मंजूर किया और उनके व्यक्तित्व पर चन्दावरकर ने जो कीचड़ उछाला था, उसे भी साफ कर दिया।

: २८ :

बंदूक का कारखाना

इसी साल कलकत्ते में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। उसमें लॉर्ड कर्ज़न द्वारा नियुक्त किये गए एजुकेशन कमिशन के विषय में जो प्रस्ताव पेश किया गया था, उस पर भाषण देते हुए तिलक ने हिन्दुस्तान की प्रचलित शिक्षा-पद्धति से जापान की शिक्षा-पद्धति की तुलना की। जापान पश्चिम की विद्याएं बड़ी तेजी से ग्रहण कर रहा था, किन्तु ऐसा करते हुए भी उसका उस शिक्षा पर पूरा काबू था। गांधीजी इसी समय दक्षिण अफ्रीका से हिन्दुस्तान आये थे और इस अधिवेशन में वह भी उपस्थित थे। उस समय के संस्मरण देते हुए गांधीजी लिखते हैं, "मेरे सद्भाग्य से मैं जिस हिस्से में था वहीं लोकमान्य भी ठहरे थे।...लोकमान्य जहां-कहीं होते, वहां थोड़ा-सा दरबार तो लग ही जाता था।...उनसे कई लोग मिलने आते थे; उनमें से मुझे एक का ही नाम आज याद है। वह थे 'अमृत बाज़ार पत्रिका' के सम्पादक मोती बाबू। उन दोनों का मुक्त-हास्य एवं राज्यकर्त्ताओं के अन्यायों के विषय में उनकी बातें मैं कभी नहीं भूल सकता।"

कलकत्ता के निवास के दिनों में तिलक 'माताजी की कन्याशाला' नामक संस्था देखने गए थे। संस्था की संचालिका माताजी किसी महाराष्ट्रीय परिवार की कन्या थीं। छोटी उमर में ही विधवा होगई थीं और उत्तर भारत की यात्रा करते-करते वह नेपाल पहुंच गईं। वहां के महाराजा के साथ मुलाकात होने पर वह अपनी खूबसूरती के कारण उनकी रानी बन गईं। बाद में महाराजा का खून होने पर वह वहां से चली आईं और कलकत्ता आकर उन्होंने एक कन्याशाला प्रारम्भ की। लोकमान्य की राष्ट्रीय प्रवृत्ति से वह बड़ी प्रभावित हुईं। उनकी प्रेरणा से ही तिलक के एक साथी श्री खाड़िलकर नेपाल में राज-महल के लिए खपरैल का कारखाना बनाने के बहाने से बंदूक का कार-खाना खोलने गए। जर्मनी की क्रप्स कंपनी को उन्होंने बंदूक बनाने की मशीनों के लिए पांच हज़ार रुपये देकर आर्डर भी दे दिया। राजमहल के लिए पर्याप्त संख्या में खपरैल तैयार हो जाने पर यंत्रों की प्रतीक्षा में नेपाल में आसानी से रहा जा सके, इसलिए वहां दियासलाई का एक कारखाना खोलना तय हुआ। बंदूक के कारखाने की एक मशीन तो नेपाल पहुंच भी गई।

किन्तु इतने में दामु जोशी नामक उनके एक साथी का कोल्हापुर चक्कर लगा। वहां उससे महाराज ने किसी तरह से बंदूक के कारखाने की सारी बातें जान लीं। उसके ही जरिये यह सारी जान-कारी ब्रिटिश-सरकार के पास पहुंचा दी गई। नेपाल में जांच शुरू हुई; किन्तु खाड़िलकर के साथ कारखाने का संबन्ध न थोड़ा जा सका। कारखाने की योजना का इससे अन्त हो गया।

ऐसे हो कुछ और प्रसंगों के आधार पर कभी-कभी यह कहा जाता है कि तिलक हिंसा में विश्वास रखते थे, इसलिए 'बंग-भंग' के बाद देश में जो बम-दुर्घटनायें और खून की वारदातें हुईं, वह उन्हें मान्य थीं, बल्कि उनके वह प्रेरक भी थे। किन्तु यह बात गलत है। हमें याद रखना चाहिए कि सशस्त्र क्रान्ति और अधिकारियों की छुट-पुट हत्यायें करके आतंक फैलाना, ये दोनों चीजें बिल्कुल भिन्न हैं। अगर सशस्त्र-क्रांति होने की संभावना लोकमान्य देखते, तो वह उसे अवश्य आशी-

र्वाद देते और शायद उसका मार्ग-दर्शन भी करते। ऐसा करना उनकी विचार-धारा के साथ असंगत नहीं होता। किन्तु आतंकवाद के द्वारा इष्ट परिणाम लाने के बारे में उन्हें बिलकुल विश्वास नहीं था। आतंकवादियों को इस मार्ग से परावृत्त करने की वह सदा कोशिश किया करते थे।

: २९ :
मृत्यु मित्र

तिलक के सामने अबतक के जीवन में कई सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक कष्ट आये, लेकिन उन्होंने दृढ़ता, साहस और धैर्य के साथ, उनका मुकाबला किया। १९ वीं सदी के अंत और २० वीं सदी के प्रारम्भ में तिलक के कई आत्मीय, विरोधी, गुरुजन तथा मित्र मृत्यु को प्राप्त हुए। उनके सम्बन्ध में तिलक ने जो उद्गार उस समय प्रकट किये, उनसे तिलक के उन-उनके प्रति स्नेह, प्रेम, आदर तथा मृत्यु के समय के उनके मानसिक संतुलन तथा धीरज का पता चलता है।

रानडे महाराष्ट्र के सार्वजनिक जीवन के आचार्य तथा राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रमुख संस्थापकों में से थे। सरकारी नौकरी में रहते हुए भी वह राष्ट्र-निर्माण और राष्ट्र-जीवन के हर काम में सलाह, मार्ग-दर्शन और मदद करने को तत्पर रहते थे।

१६ जनवरी को न्यायमूर्त्ति रानडे इस संसार से चल बसे। तिलक, आगरकर आदि ने सार्वजनिक कार्य के विषय में शुरू के दिनों में उन्हीं से सलाह-मशविरा प्राप्त किया था। रानडे भी इस मंडली के प्रशंसक रहे थे। परन्तु सामाजिक सुधार एवं राजनैतिक बातों में तिलक का उनके साथ मतभेद था और उन्होंने रानडे की बहुत ही कड़ी आलोचना भी की। पर उनके देहावसान के बाद उनके कार्य एवं व्यक्तित्व का मूल्यांकन तिलक ने बहुत ही सहृदयता से किया। 'सर्वज्ञः सहि माधवः' इस एक वाक्य से उन्होंने चौदहवीं सदी के माधवाचार्य के साथ उनकी तुलना की और उनकी बुद्धि की महिमा गाई। महाराष्ट्र के जीवन में रानडे ने जो भाग लिया था, उसका वर्णन करते हुए तिलक

ने लिखा, "महाराष्ट्र उन दिनों एक ठंडे चेतना-हीन पिण्ड के समान पड़ा हुआ था। उसे गरमी देकर किस तरह सजीव किया जाय कि वह अपने हाथ-पांव हिलाने लगे, इसका रात-दिन चिन्तन करके अनेक उपायों से उसे पुनः सजीव करने का विकट काम सबसे पहले रानडे ने ही किया। हमारी दृष्टि से यही उनकी महत्ता एवं उनके सबसे असाधारण व्यक्तित्व का प्रमुख लक्षण है।"

स्वामी विवेकानन्द और तिलक का बहुत अच्छा परिचय होगया था। दोनों एक-दूसरे का सम्मान करते थे। विश्व-धर्म-परिषद् के लिए अमरीका जाने के पहले वह १८९१-९२ में जब पूना आये थे तब तिलक के यहां ही ठहरे थे। इसके बाद कलकत्ता कांग्रेस के समय तिलक उनसे मिलने के लिए खासतौर पर बेलूर मठ गए थे। उन दोनों के बीच उस समय काफी विचार-विमर्श हुआ था। विवेकानन्द और उनके कार्य के लिए तिलक के मन में बड़ा आदर था। ६ जुलाई को विवेकानन्द का भी देहावसान होगया। इससे तिलक को बड़ा दुःख हुआ। इस अवसर पर उन्होंने लिखा था, "हजारों वर्षों से भारतवर्ष में अध्यात्म-शास्त्र की गंगा बह रही है। पश्चिम के विद्वानों के सामने उसे प्रस्तुत करके उसकी अपूर्वता को उनसे मनवाना और इसके कारण भारतवर्ष के प्रति उन लोगोंकी सहानुभूति पैदा करना कोई मामूली बात नहीं है। पश्चिम के आधिभौतिक-शास्त्र का प्रवाह भारत में अंग्रेजी विद्या के साथ-साथ इस तेज़ी से बहता चला आया है कि उसे पीछे हटाने का काम कोई असाधारण बुद्धिशाली और धीरवान् व्यक्ति ही कर सकता था। 'थियोसोफिकल सोसायटी' ने विवेकानन्द से पहले इस दिशा में कुछ काम शुरू किया था। किन्तु इसमें कोई शक नहीं कि इस प्रवृत्ति को हिन्दू धर्म की असली बुनियाद पर रखने का काम विवेकानन्द ने ही सर्व प्रथम किया।

"हिन्दू-धर्म के उज्ज्वल स्वरूप का दर्शन कराना और हमारी इस अनमोल सम्पत्ति का सारी दुनिया में प्रचार करना हमारा सही कर्त्तव्य है। यह कार्य केवल भाषण देकर ही नहीं, बल्कि अपने आचरण के द्वारा सारी दुनिया के सामने प्रस्तुत करनेवाले सत्पुरुष हजार-बारह-सौ वर्ष पहले एक शंकराचार्य हुए थे और दूसरे १९ वीं सदी में स्वामी विवेकानन्द।"

"यह बात भी ध्यान देने की है कि अगर शंकराचार्य की मृत्यु ३२ वर्ष की अवस्था में हुई तो विवेकानन्द भी मृत्यु के समय ४० वर्ष के थे।"

राममोहनराय से सुधारकों की जो परम्परा हमारे यहां प्रारम्भ हुई थी, रामकृष्ण तथा विवेकानन्द की धारा उससे अलग थी। उसमें हमारी संस्कृति, धर्म या समाज-रचना के बारे में किसी प्रकार का हीन-भाव न था। और इसी कारण तिलक विवेकानन्द के प्रति विशेष रूप से आकर्षित हुए हों तो कोई आश्चर्य नहीं।

दिसम्बर १६०० में प्रसिद्ध अंग्रेज दार्शनिक हरबर्ट स्पेन्सर का ८४ वर्ष की आयु में देहावसान हुआ। स्पेन्सर के विषय में तिलक ने लिखा, "हरबर्ट स्पेन्सर का नाम सारी दुनिया में प्रसिद्ध है। आधिभौतिक विचार-प्रवाह से ग्रस्त इस युग में वैराग्य और निष्ठा से आध्यात्मिक प्रश्नों का विचार करने में स्पेन्सर ने अपना सारा जीवन बिताया। उन्होंने अपनी अलौकिक बुद्धि-शक्ति के द्वारा भावी पीढ़ी के विचारों को दिशा बताई। ऐसे पुरुष ही दुनिया के सच्चे हितकर्त्ता होते हैं। वे किसी भी देश में जन्मे हों 'विद्वान् सर्वत्र पूज्यते', इस न्याय से सबके आदर के पात्र बनते हैं।"

यूरोप के राष्ट्र पूर्व के देशों पर कब्जा करके उनका शोषण करते हैं, यह बात स्पेन्सर को बहुत अखरती थी। उनके व्यक्तित्व का यह अज्ञात पहलू ध्यान में रखकर ही श्यामजी कृष्ण वर्मा ने स्पेन्सर के स्मारक के तौर पर एक व्याख्यान-माला शुरू की थी।

तिलक पर जिस समय फौजदारी मुकदमा चल रहा था, उसी समय पूना में प्लेग का प्रकोप शुरू हुआ। तिलक के कुटुंब के कई लोग उसके शिकार हुए। उनका सबसे बड़ा लड़का विश्वनाथ, जो कॉलेज में पढ़ता था, १ फरवरी १६०३ को इस प्लेग से चल बसा। किन्तु तिलक ने इसके कारण अपने नियमित कामों में किसी प्रकार की शिथिलता न आने दी। बड़े लड़के के गुजर जाने पर छोटे पर भी प्लेग का प्रकोप हुआ। पर तिलक अविचलित भाव से 'केसरी' के लिए लेख लिखने का काम करते रहे। अपना काम समाप्त कर लेने के बाद ही वह लड़के को देखने के लिए उसके कमरे में गए। बड़े लड़के की मृत्यु के बाद तिलक के मित्र-

सम्बन्धी जब शोक प्रदर्शित करने आये तब उन्होंने कहा, "अरे भाई, जब सारे गांव में होली जलती है तो उसमें प्रत्येक गांववाले को अपने घर से एक-एक कंडा डालना पड़ता है। उसी प्रकार आज पूना में यह प्लेग की होली जल रही है। उसमें इस घर से भी एक लकड़ी डालनी चाहिए न !"

: ३० :

लॉर्ड कर्ज़न और राष्ट्रीयता

इसी अर्से में भारत की राजनीति को एक नई प्रेरणा, नई दिशा और नया बल मिला। इसके कई कारण थे। इटली में मैज़िनी और गैरिबाल्डी ने जो कार्य अपने देश की जागृति के लिए किये थे, उनका हिन्दुस्तान के लोगों पर भी बहुत बड़ा असर हुआ। मैज़िनी के जीवन और कार्य के बारे में भारत की भिन्न-भिन्न भाषाओं में कई किताबें इन्हीं दिनों प्रकाशित हुईं। १८९६ में अबिसीनिया ने इटली पर जो विजय प्राप्त की थी, उसका भी भारत के लोगों पर असर पड़ा। भारतवासियों में जो एक प्रकार का हीन-भाव और लाचारी थी, वह दूर होने लगी। १९०५ में जब ज़ापान ने रूस पर विजय प्राप्त करली, तब तो उस विजय का एशिया भर में 'नव-प्रभात' के रूप में स्वागत किया गया। पूर्वी देशों में उससे बड़ा आत्म-विश्वास पैदा हुआ।

१९०४ के सितम्बर महीने में ऍमस्टर्डम में समाजवादियों का अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। उसमें हिन्दुस्तान के प्रतिनिधि दादाभाई नौरोजी का खूब सम्मान हुआ। वहां भारतीय जनता की राष्ट्रीय आकांक्षाओं के प्रति सहानुभूति व्यक्त की गई। इसी सम्मेलन में मदाम कामा नें पहले-पहल भारत का राष्ट्रीय-झंडा फहराया था।

किन्तु भारत के बाहर भी इन सब घटनाओं की अपेक्षा अधिक परिणामकारी घटना देश में ही घटित हो रही थी। वह थी—लॉर्ड कर्ज़न का हिन्दुस्तान के वाइसराय के पद पर आना और उनकी साम्राज्यवादी राजनीति।

लॉर्ड कर्ज़न भारत के वाइसराय के पद पर आने से पहले चार बार भारत आ चुके थे। १७९१-९२ में उप-भारत-सचिव का काम भी उन्होंने किया था। भारत आये हुए वाइसरायों में वह सबसे कम आयु के थे। उनका व्यक्तित्व, उनका उत्साह और कार्य-शक्ति, उनकी प्रभावशाली वक्तृत्वशक्ति आदि गुणों से लोग शुरू में तो चकाचौंध हो गए और उनके मन में कई आशाओं का संचार हो गया। किन्तु कुछ समय बाद ही उनकी सहानुभूति-शून्य वृत्ति एवं कल्पना-शक्ति के अभाव को देखकर लोग निराश होने लगे। भारत आने पर ब्रिटिश-मंत्रि-मंडल को उन्होंने लिख भेजा कि कांग्रेस की स्थिति अब धीरे-धीरे डावांडोल होने लगी है और किसी भी समय उसका अन्त हो जायगा। उन्होंने यह भी लिखा था कि उनकी एक बड़ी महत्त्वाकांक्षा यह है कि उसे (कांग्रेस को) धीरे से सुला दें।

कर्ज़न के कारनामे भारतीय राष्ट्रीयता के लिए एक चुनौती बन गए। जिस कांग्रेस को वह सुला देना चाहते थे, उसमें ऐसी जान पैदा हो गई कि १९०६ के अपने अधिवेशन में उसने 'स्वराज्य' को अपना ध्येय घोषित कर दिया।

केंद्रीय विधान सभा के पहले बजट अधिवेशन में कर्ज़न ने अपना यह संकल्प ज़ाहिर किया कि हरक्यूलीस की तरह वह भी बारह महान् कार्य करना चाहते हैं। उनकी कार्य-शक्ति वाकई बहुत ज़बरदस्त थी। प्रत्येक काम में वह दिलचस्पी ले सकते थे और उसकी गहराई तक जा सकते थे। एफीशियन्सी—कार्यक्षमता—के वह बड़े उपासक थे। भारत के अपने शासन-काल के दौरान में उन्होंने अपने संकल्प के मुताबिक कुछ अच्छे काम भी किये। पहले हम उन्हें ही देख लें।

रंगून में ब्रिटिश फौज के कुछ सिपाहियों ने एक देशी स्त्री पर बलात्कार किया जिससे वह स्त्री मर गई। जब अपराधियों का पता नहीं चला तब कर्ज़न ने सारी पल्टन को ही सज़ा दे दी। इसी तरह सियालकोट में दो गोरे सिपाहियों ने एक बावर्ची से एक अपनी काम-वासना की तृप्ति के लिए एक देशी स्त्री लाने के लिए कहा, और उसके इन्कार करने पर उसे इतना मारा कि वह मर गया। यहां भी गुनहगारों का पता

न चलने पर सारी पल्टन को कर्ज़न ने सजा दे दी । उन दिनों गोरे अपराधियों को इस प्रकार सज़ा देना असंभव-सा था । कर्ज़न ने भारतीय संस्कृति की दृष्टि से भी एक बड़े महत्त्व का काम किया । भारत के प्राचीन अवशेषों को सुरक्षित रखने के लिए उन्होंने पुरातत्त्व-विभाग की स्थापना की । किन्तु इन सब कामों के पीछे उनकी तानाशाही भी थी । इसी कारण वह जनता के मन को जीतने में कामयाब न हो सके ।

परन्तु अपने कहने के अनुसार वह खासतौर पर ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा और वृद्धि के लिए आये थे। इसलिए भारत में आते ही उन्होंने आस-पास के मुल्कों में ब्रिटिश साम्राज्य की प्रतिष्ठा एवं प्रभाव बढ़ाने का काम अपने हाथ में लिया । इसके लिए उन्होंने अफगानिस्तान के अमीर के साथ मित्रता स्थापित की । तिब्बत पर भी चढ़ाई की । किन्तु इसमें सफलता नहीं मिली । उन्हें 'घर' की ओर से उलहना भी मिला । ईरान की खाड़ी में एवं ईरान में अंग्रेजों का प्रभाव कायम रखने के लिए भी वह स्वयं वहां गए ।

स्थानीय-स्वशासन-संस्थाओं पर सरकार का काबू बढ़ाने के लिए उन्होंने एक कानून बनाया और कलकत्ता कार्पोरेशन में निर्वाचित सदस्यों का अनुपात कम कर दिया । एजुकेशन-कमीशन नियुक्त करके विश्वविद्यालयों के बारे में कानून बनाकर उनकी स्वतन्त्रता कम कर दी और उच्च शिक्षा लोगों के लिए दुर्लभ बना दी । देश में अकाल, प्लेग आदि के कारणों से लोगों की स्थिति जब बिल्कुल दयनीय हो गई थी, उस समय भी उन्होंने राज्य की आय में से ३० करोड़ रुपये ब्याज, पेंशन इत्यादि के तौर पर इंगलैण्ड भेजने के लिए अलग निकाल दिये और ३० लाख रुपये खर्च करके दिल्ली में शानदार दरबार किया । 'आफीशियल सीकरेट्स एक्ट' पास करके अखबारों का मुंह बन्द कर दिया । १९०४ के बजट संबंधी भाषण में राजतंत्र के मुल्की विभाग में—फौजी विभाग में तो यह नीति जारी ही थी—ऊंचे-ऊंचे ओहदों पर अंग्रेजों की ही नियुक्ति होनी चाहिए, यह नीति घोषित की । कांग्रेस द्वारा पास किये प्रस्ताव वाइसराय के सामने पेश करने के लिए, उसके अध्यक्ष सर हेनरी कॉटन ने जब कर्ज़न से मुलाकात का समय मांगा, तो उन्होंने उन्हें मिलने का समय देने से इन्कार कर दिया ।

१९०५ में कलकत्ता यूनिवर्सिटी के चांसलर की हैसियत से दिये गए भाषण में उन्होंने यह कहा कि सर्वोच्च आदर्श के तौर पर सत्य की महिमा पश्चिम के लोगों को ही सर्वप्रथम प्रकट हुई—पूर्वी देशों में षड्यंत्र एवं छल-कपट की नीति ही प्रतिष्ठित मानी जाती है। अन्त में उन्होंने भी यह कहा कि 'भारतीय राष्ट्र' जैसी कोई चीज है, ऐसा मैं नहीं मानता।

इन सब तानाशाही कारनामों के लिए भारत के नेताओं ने कर्ज़न की बहुत कड़ी टीका की। टीकाकारों ने जब यह कहा कि भारतीयों को ऊंचे पदों की नौकरियां न देने की घोषणा साम्राज्ञी की घोषणा के खिलाफ है, तब कर्ज़न ने बिना किसी हिचकिचाहट के कहा कि वह घोषणा तो एक 'असम्भव सनद' है। चांसलर की हैसियत से दिये गए भाषण में संपूर्ण भारतीय जनता पर झूठे होने के आरोपों पर टीका करते हुए तिलक ने 'झूठे कौन ?' शीर्षक से 'केसरी' में एक अग्रलेख लिखा। उसमें उन्होंने कर्ज़न को खूब फटकारा।

कर्जन जिस समय भारत में आये उस समय भारत अकाल और और प्लेग आदि से पीड़ित था। १८९९-१९०० में एक और भयानक अकाल पड़ा, जिसमें लाखों आदमी भुखमरी से पीड़ित होकर मर गए। किन्तु ऐसी अवस्था में भी कर्ज़न ने लाखों रुपये खर्च करके दरबार करने का कार्य पूरा किया।

कर्ज़न की उद्दण्ड-नीति के बारे में तिलक ने लिखा था, "लॉर्ड कर्ज़न के शासन-काल में यह तानाशाही-वृत्ति चरम सीमा पर पहुंच गई है। यह बात सही है कि यह वाइसराय बड़े होशियार हैं, लेकिन उनकी सारी होशियारी भारत की जनता की मांगों का खात्मा करने के काम ही आती है। ऐसा लगता है मानो विलायत की 'टोरी' सरकार ने उनको मनमानी करने की पूरी आज़ादी दे दी है।"

यूनिवर्सिटी कमिशन की रिपोर्ट की समालोचना करते हुए तिलक ने लिखा था, "यूनिवर्सिटी कमिशन आदि जो भी काम कर्ज़न ने अपने हाथ में लिये, उनसे जनता का हित होने के बजाय उसके उत्कर्ष की आशा बरसों के लिए दूर चली गई है। यह सब झंझट 'सरकार के लिए' हुआ है। लोगों के हित की दृष्टि से उसकी चर्चा कब होगी पता नहीं। कम-

से-कम कर्ज़न के समय में तो उसके होने की कोई आशा नहीं है ।"

एक दूसरे अवसर पर लिखते हुए तिलक ने कर्ज़न की औरंगजेब के साथ तुलना करते हुए लिखा, "साम्राज्य—अखंडित साम्राज्य, अप्रतिहत एवं चिरस्थायी साम्राज्य, बस साम्राज्य-ही-साम्राज्य—यही कर्ज़न साहब की नीति का मुख्य लक्षण है। उनकी ऐसी पक्की मान्यता है कि शौर्य, विद्या, व्यापार एवं संपत्ति के विषय में भारत को सदा के लिए ब्रिटेन का आश्रित होकर रहना चाहिए । अपने शासकों के साथ भारत स्पर्धा करने लग जाय, यह उनकी बर्दाश्त के बाहर है ।"

गोखले ने भी बाद में बनारस की कांग्रेस के अध्यक्ष-पद से भाषण देते हुए कर्ज़न की औरंगजेब के साथ तुलना की थी ।

किन्तु कर्ज़न का सबसे स्मरणीय काम बंग-भंग था । उसका जिक्र हम अगले अध्याय में करेंगे ।

: २९ :

बंग-भंग और मार्ले-मिण्टो सुधार

भारत के नेताओं तथा पत्रकारों ने कर्ज़न के कारनामों कड़ी-से-कड़ी टीका की और उनके तानाशाही रवैये की निंदा की। इन नेताओं में बंगाली प्रमुख थे। अतः बंगाली लोगों को दबा देने तथा उनकी एकता को छिन्न-भिन्न कर देने के उद्देश्य से कर्ज़न ने बंगाल के टुकड़े करना तय किया। वह भी इस तरह कि प्रत्येक हिस्से में हिन्दुओं का अल्प-मत हो जाय। ऐसा करने के लिए बहाना यह बनाया गया कि बंगाल प्रांत एक लेफ्टिनेण्ट गवर्नर के लिए बहुत बड़ा है। किन्तु असली बात यह थी कि हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच फूट डालना ही कर्ज़न की नीति का मुख्य उद्देश्य था। उनका यह निश्चित मत था कि जातीय-विद्वेष की बुनियाद पर ही भारत को इंगलैण्ड के कब्जे में रखा जा सकता है। अगर हिन्दू और मुसलमानों के बीच मेल-जोल रहा, तो ब्रिटिश-साम्राज्य के लिए वह बड़ा खतरनाक होगा। इसलिए जातीय विद्वेष की आग में तेल डालने का विचार करके कर्ज़न ने बंगाल के दो टुकड़े कर दिये।

बंग-भंग की योजना सबसे पहले जुलाई १९०४ में प्रकाशित की गई। सारे बंगाल में अखबारों एवं सार्वजनिक सभाओं के द्वारा इसका घोर विरोध किया गया। ७ अगस्त के दिन कलकत्ते के टाउन-हॉल में एक विरोध-सभा हुई, जिसमें कोई पचास-हज़ार लोग इकट्ठे हुए। सभा में बंग-भंग की योजना के विरोध में ब्रिटिश माल का बहिष्कार करने का प्रस्ताव पास किया गया। यह आन्दोलन इतनी तेजी से शुरू हुआ कि पन्द्रह दिन के अन्दर ही सारे बंगाल में फैल गया। विद्यार्थियों और युवकों में जबरदस्त उत्साह पैदा होगया। जगह-जगह पर पिकेटिंग होने लगा। कलकत्ता और दूसरे शहरों में राष्ट्रीय गीत गाते हुए तथा 'वन्दे-मातरम्' का नारा लगाते हुए जुलूस निकलने लगे। सदियों से नींद में पड़े हुए बंगाल में मानो नवजागरण आगया।

सितम्बर मास में बताया गया कि बंग-भंग का अमल १६ अक्तूबर से शुरू होगा। इसलिए वह दिन किस प्रकार मनाया जाय, इसका विचार करने के लिए बंगाल के बेताज के बादशाह सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने बंगाली नेताओं की एक सभा बुलाई, जिसमें रवीन्द्रनाथ ठाकुर, भगिनी निवेदिता आदि ने भी भाग लिया। उस सभा में यह तय किया गया कि १६ अक्तूबर का दिन 'राष्ट्रीय-शोक-दिवस' के रूप में मनाया जाय। उसके अनुसार उस दिन सारे बंगाल में हड़ताल, प्रार्थना, उपवास एवं रक्षा-बंधन का कार्यक्रम बड़ी गम्भीरता के साथ मनया गया। बंग-भंग को रद्द कराने के लिए प्रतिज्ञाएं भी ली गईं।

सरकार ने सोचा कि इस आन्दोलन का उफान अपने-आप ही शांत हो जायगा। लेकिन जब उन्होंने देखा कि ऐसा कोई चिह्न नज़र नहीं आता, है तो दमन शुरू कर दिया। विद्यार्थी-समाज उसका पहला लक्ष्य बना। पश्चिमी और पूर्वी बंगाल के सेक्रेटरी कारलाइल तथा लायन ने २८ अक्तूबर को एक परिपत्र निकालकर विद्यार्थियों को आन्दोलन में भाग न लेने का हुक्म दिया। उन्होंने यह चेतावनी भी दी कि अगर कोई विद्यार्थी या विद्यालय के संचालक या शिक्षक इस हुक्म को भंग करेंगे, तो उन्हें सरकारी सहायता नहीं मिलेगी तथा जिन विद्यार्थियों को छात्र-वृत्ति मिलती होगी वह बंद कर दी जायगी। विद्यार्थियों के द्वारा इस

हुक्म का बड़े पैमाने पर भंग शुरू हुआ। परिणामस्वरूप रंगपुर, ढाका तथा दिनाजपुर के विद्यार्थियों पर जुर्माने किये गए।

सरकारी-दमन की इस चुनौती का विद्यार्थियों ने जो प्रतिकार किया, नेताओं ने भी उसे स्वीकार किया और उनको राष्ट्रीय दृष्टि से शिक्षा देने के लिए 'नेशनल कौंसिल ऑफ एजुकेशन' नाम की एक संस्था स्थापित की। राजा सुबोधचन्द्र मल्लिक आदि ने उदारचेता लोगों ने इसे द्रव्य की भरपूर सहायता दी। अरविन्द घोष बड़ौदा की प्रतिष्ठित एवं पैसे की दृष्टि से खूब आयवाली नौकरी छोड़कर सिर्फ सौ डेढ़सौ रुपये के वेतन पर कौंसिल द्वारा स्थापित कॉलेज के प्रिंसिपल की जगह पर काम करने आ गए।

पूर्वी बंगाल के बाकरगंज जिले में बहिष्कार का आन्दोलन अश्विनीकुमार दत्त के नेतृत्व में खूब ज़ोरदार बन गया था। उसको दबाने के लिए लेफ्टिनेंट गवर्नर फुलर ने गोरखा पुलिस तैनात कर दी। उस पुलिस और ढाका के नवाब के लोगों द्वारा वहां बहुत अत्याचार हुए। किन्तु इससे विद्यार्थी और नेता दबे नहीं। अप्रैल में इसी जिले के बारीसाल क़सबे में बंगाल प्रांतीय परिषद् बुलाई गई। परिषद के अवसर पर पांच हजार आदमियों का जुलूस निकला। उसे भंग करने के लिए पुलिस ने लाठी-चार्ज किया। कई लोग घायल हुए। किन्तु लोगों ने यह सब शांतिपूर्वक सहन किया। दूसरे दिन भी इसकी पुनरावृत्ति हुई और दफा १४४ लगा दी गई। पुलिस के द्वारा लोगों पर खूब अत्याचार हुए। उस समय तो उन्होंने खामोशी रखी। लेकिन इस सबके कारण लोगों में सरकार के प्रति भयंकर रोष पैदा हुआ। सारे बंगाल में क्रान्तिकारियों के गुप्त संगठन स्थापित हो गए।

बंगाल के इस आन्दोलन के सम्बन्ध में 'संकट का समय' शीर्षक लेख में तिलक ने लिखा, "कर्ज़न की सरकार मदोन्मत्त हाथी की तरह लोकमत को मानो तुच्छ घास समझकर उसका अनादर कर रही है। किन्तु उसे मालूम नहीं कि इसी घास की अगर रस्सी तैयार की जाय तो उससे इस हाथी को भी बांधा जा सकता है। हजारों लोगों का समुदाय अगर किसी एक निश्चय के द्वारा एकसूत्र में बंधा हुआ न हो, तो वह बेकाम

है। वस्तुतः लोकमत का बल निश्चय में है, न कि समुदाय में या संख्या में। आज का समय संकट का है। केवल 'कथनी से' काम नहीं चलेगा, 'करनी' आवश्यक है और उस 'करनी' के साथ-साथ निश्चय की भी आवश्यकता है।"

उन्हीं दिनों प्रिंस ऑफ वेल्स भारत आनेवाले थे। यह संभावना थी कि नरम लोग उनका स्वागत करेंगे। इस ओर ध्यान आकर्षित करते हुए तिलक ने लिखा, "अगर हम इस मौके पर अपने कर्त्तव्य से विमुख हो गए और युवराज के यहां आने पर विलायती डायमंड-लेदर के बूट पहनकर उनके आगे साष्टांग-प्रणाम करने लग जायंगे, तो यह हमारी मानसिक कमजोरी की बहुत बड़ी निशानी होगी। यह सारी दुनिया के सामने हमारी नालायकी साबित करेगी।"

बंगाल पर हुए इस अन्याय का जोरदार प्रतिकार करने के लिए उन्होंने बहिष्कार-योग को राष्ट्र-व्यापी बनाने को कहा। कपड़े का बहिष्कार इस बहिष्कार-योग का पहला कदम था। आगे चलकर सरकारी तंत्र का बहिष्कार, यानी कानून-भंग तथा कर देने से इन्कार करना भी शामिल था।

गीता के निम्नलिखित श्लोक को उद्धृत करके उन्होंने जनता से सहयोग की अपील की और कहा कि इस 'बहिष्कार-योग' का जितना व्यापक आचरण हो सके, उतना ही वह कल्याणकारी होगा।

"नेहाभिक्रम नाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतोभयात्॥

बंगाल के आन्दोलन को दबाने के लिए जैसे सरकारी परिपत्र निकले थे, वैसे ही परिपत्र पूना और बंबई में भी सरकार द्वारा निकाले गए। डकन कॉलेज के प्रिंसिपल सेल्बी ने कॉलेज के एक भूतपूर्व विद्यार्थी के पत्र का जवाब देते हुए लिखा कि स्वदेशी आदि के आन्दोलनों में भाग लेना विद्यार्थियों के लिए इष्ट नहीं है। इस पर तिलक ने, 'ये हमारे गुरु ही नहीं हैं', शीर्षक लेख-माला में लिखा, "राष्ट्र-हित से संबंध रखनेवाली बातों में राज्यकर्त्ताओं की जमात के और उन्हींकी नौकरी करनेवाले अध्यापकों को तथा आचार्यों को उपदेश देने का कोई अधिकार नहीं

हो सकता। 'प्रमाणयति नो धर्मे कुट्टिनीमुपदेशिनीम्' इस न्याय से इनके पास सलाह लेने जाना केवल मूर्खता है।"

इसी बीच फर्ग्यूसन कॉलेज के एक विद्यार्थी (वि० दा० सावरकर) पर स्वदेशी की सभा में भाषण देने के कारण कॉलेज के प्रिंसिपल ने जुर्माना किया और उसे छात्रालय में से निकाल दिया। इस संबंध में तिलक ने लिखा, "सारे हिन्दुस्तान में जब स्वदेशी के प्रसार का काम चल रहा है, तब लोगों की मदद से स्थापित किये गए कॉलेज के प्रिंसिपल स्वदेशी आन्दोलन में शामिल होने के कारण विद्यार्थी पर जुर्माना करें, यह देखकर बहुत हैरानी होती है। देश के अन्य नेता जब राष्ट्र के हित के लिए आन्दोलन कर रहे हैं, ऐसे समय पर उसकी शिक्षा विद्यार्थियों को विद्यार्थी-काल में ही मिलनी चाहिए। आज ऐसा न हो सकेगा तो फिर वैसी शिक्षा उन्हें कब मिलेगी? क्योंकि आज का विद्यार्थी अपना विद्यार्थी-जीवन समाप्त करने पर और नौकरी मिल जाने पर नौकर बन जाता है और बाद में पेन्शनर। अर्थात् बाद में एक प्रकार से उसे अपना पूरा जीवन गुलाम की तरह ही बिताना पड़ेगा। राष्ट्रीय या सार्वजनिक कार्य में विद्यार्थियों को भाग न लेने देना राष्ट्र के हित के लिए बड़ा घातक है।"

१९०५ के दिसम्बर में कांग्रेस का अधिवेशन गोखले की अध्यक्षता में बनारस (वाराणसी) में हुआ। बंग-भंग के आन्दोलन का समर्थन करते हुए उन्होंने कहा, "यह आन्दोलन राष्ट्र के इतिहास में क्रांति करनेवाला है। इस आन्दोलन के कारण हमारे आपसी झगड़े मिट जायंगे और लोकनायकों में एकता पैदा होगी। जैसे नदी में जब बाढ़ आती है तब उसका पानी इधर-उधर फैल जाता है, उसी प्रकार इस प्रचण्ड आन्दोलन में कानूनी मर्यादा का उल्लंघन कहीं-कहीं हो सकता है। किन्तु बंगालियों की इज्जत हमारी इज्जत है, यह समझकर हमें उनकी सहायता करनी चाहिए। उन्होंने जो बहिष्कार शुरू किया है उसकी ओर इंगलैण्ड के लोगों का भी ध्यान गया है और उसका परिणाम भी अच्छा हुआ है। हमें भी कष्ट उठाकर स्वदेशी को अपनाना चाहिए। हिन्दुस्तान को 'डोमीनियन-स्टेटस' (औपनिवेशक स्वराज्य) मिलना ही चाहिए।"

गोखले के इस भाषण की टीका करते हुए 'टाइम्स ऑफ इण्डिया'

ने लिखा, "गोखले ने अपना विनीत-भाव त्याग दिया, यह अच्छा नहीं किया।"

इसी समय प्रिंस ऑफ वेल्स हिन्दुस्तान आ पहुंचे थे। नरम दल के कांग्रेसी नेता उनके स्वागत का प्रस्ताव पास करना चाहते थे। काफी चर्चा के बाद तिलक के आग्रह पर निम्नलिखित वाक्य प्रस्ताव में जोड़ दिया गया, "इस कांग्रेस की युवराज से प्रार्थना है कि वह सम्राट के आगे हमारी यह मांग पेश करें कि हिन्दुस्तान के राजतंत्र में साम्राज्ञी की घोषणा में जो सिद्धान्त बताये गए हैं, उनका अमल किया जाय।" इसके बाद ही यह प्रस्ताव पास हुआ।

इसी समय पंडित मदनमोहन मालवीय नवयुवकों को उच्च शिक्षा देने के लिए एक राष्ट्रीय शिक्षा-संस्था बनाने के प्रयत्न में लगे हुए थे। इसके लिए उन्होंने कई राजा-महाराजाओं से भी सहायता ली थी। बनारस का हिन्दू विश्वविद्यालय इन्हीं प्रयत्नों का परिणाम था। इस कांग्रेस में हिन्दू विश्वविद्यालय स्थापित करने के विचार को प्रोत्साहन दिया गया। इस काम के लिए महाराष्ट्र की ओर से एक-दो अध्यापक भेजने की जिम्मेदारी तिलक ने अपने ऊपर ली। नागरी-प्रचारिणी-सभा की ओर से बुलाई गई एक सभा में तिलक ने देवनागरी लिपि को सार्वत्रिक बनाने का सुझाव दिया।

लॉर्ड कर्ज़न की अपने पद की मियाद १९०४ में ही पूरी हो गई थी। किन्तु ब्रिटिश मन्त्रि-मंडल ने उनकी वाइसराय के पद पर फिर से नियुक्ति कर दी। लेकिन कुछ ही दिन बाद फौजी अधिकार के बारे में जंगी लाट लॉर्ड किचनर के साथ लार्ड कर्ज़न का तीव्र मतभेद हो गया। ब्रिटिश मंत्रि-मंडल किचनर के साथ सहमत था; इस कारण कर्ज़न को इस्तीफा देना पड़ा। उनके स्थान पर लॉर्ड मिण्टो की नियुक्ति हुई। हिन्दुस्तान के लोगों के लिए 'सहानुभूति' को इन्होंने अपना सूत्र बनाया। किन्तु कर्ज़न की स्थापित की हुई नीति में कोई खास परिवर्तन नहीं हुए। उनके प्रशंसकों का तो कहना था कि कर्ज़न ने जो बीज बोये थे, उनके दुष्परिणाम ही उनको सहन करने पड़े।

किन्तु भेद-नीति के बारे में मिण्टो कर्ज़न से किसी प्रकार कम न थे।

"१ अक्तूबर (१९०६) ; बहुत ही महत्त्वपूर्ण घटना का दिन ; हिन्दुस्तान के इतिहास में एक नये युग का आरम्भ" लेडी मिण्टो ने अपनी डायरी में पहली अक्तूबर का इन शब्दों में उल्लेख किया है। क्योंकि उस दिन आगा खां के नेतृत्व में हिन्दुस्तान के विभिन्न प्रान्तों के ७० मुसलमानों का एक प्रतिनिधि मंडल वाइसराय से मिला था और उसने मुसलमानों के लिए यह मांग की कि नगरपालिकाओं, जिला बोर्डों, विधानसभाओं आदि प्रतिनिधि संस्थाओं में जब चुनाव की पद्धति का तथा सिद्धान्त दाखिल किया जाय, या बढ़ाया जाय, तो उनमें एक जमात की हैसियत से मुसलमानों को अलग प्रतिनिधित्व दिया जाय।

उसी दिन शाम को एक बड़े अधिकारी ने लेडी मिण्टो को लिखा, "आज एक बहुत ही महत्त्व की घटना घटित हुई है। इसका असर सारे हिन्दुस्तान पर और उसके इतिहास पर सदियों तक रहेगा। राजनीति का यह एक बड़ा भारी कार्य हुआ है। छह करोड़ बीस लाख लोगों को राजद्रोह के विरोधी दल में लाया गया है।"

भेद-नीति का इससे अधिक वर्णन क्या हो सकता है ? इस घटना के संबंध में मौलाना मुहम्मद अली ने कहा था कि वह एक 'कमाण्ड परफॉरमन्स' यानी ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रेरित नट का खेल था।

मिण्टो के शासनकाल में भी राष्ट्रीय आन्दोलन काफी जोरों से जारी रहा। भारतीय जनता को संतुष्ट करने के लिए मार्ले-मिण्टो सुधार घोषित किये गए। किन्तु उनकी रचना उपरोक्त घटना की बुनियाद पर ही थी। इसमें पाकिस्तान के बीज पाये जाते हैं।

: ३२ :

स्वराज्य का संदेश

हम देख चुके हैं कि कांग्रेस के बनारस अधिवेशन में बंग-भंग की निन्दा की गई थी और उसके विरोध में शुरू किये गए बहिष्कार-आंदोलन कासमर्थन भी किया गया था। इस नीति को बदलने के लिए,या कम-से-कम आगे बढ़ने से रोकने के लिए फिरोज़शाह मेहता (जो बनारस-अधिवेशन

में मौजूद नहीं थे) आदि नरम नेताओं ने प्रयत्न शुरू किये। दूसरी ओर गरम दल के लोगों ने अपनी नीति को अधिक उग्र बनाने का विचार किया। इसको कार्यान्वित करने के लिए खापर्डे ने कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन के अध्यक्ष-पद के लिए लाला लाजपतराय का नाम सुझाया। बाबू विपिनचन्द्र पाल आदि बंगाल के नेताओं ने तिलक का नाम सुझाया। ये दोनों नाम नरम दलवालों के लिए घबराहट पैदा करनेवाले थे। इनके बारे में कुछ समय तक खूब चर्चा चली। आखिर इस विकट परिस्थिति से रास्ता निकालने के लिए नरमदली नेताओं ने दादाभाई नौरोजी को अध्यक्ष-पद लेने के लिए इंगलैण्ड से बुलाने का निश्चय किया। दादाभाई का नाम सुनकर गरम दल ने अपने सुझाव वापस ले लिये और दादाभाई सर्वसम्मति से अध्यक्ष चुने गए।

"दादाभाई भी और क्या कहनेवाले हैं" शीर्षक लेख में तिलक ने लिखा, "दादाभाई के बारे में एक बात हमें खासतौर से याद रखनी चाहिए। वह फुरसत के समय काम करनेवाले नेता नहीं हैं। सब लोगों का सहयोग प्राप्त करके तथा सभीके दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर देश-कार्य करना, यही उनका जीवन-व्रत है। देश में पैदा हुई वर्त्तमान जागृति पर वह कभी ठंडा पानी नहीं डालेंगे। राष्ट्रीय आन्दोलन को दादाभाई के आगमन से पुष्टि ही मिलेगी।"

लोकमान्य की यह मान्यता बिल्कुल निराधार नहीं थी, क्योंकि बनारस की कांग्रेस को भेजे गए अपने संदेश में दादाभाई ने कहा था, "मरहम-पट्टी जैसे ऊपरी इलाजों से, यानी राजतंत्र में मामूली फेर-फार करने से, हमारा इच्छित लक्ष्य पूरा नहीं होगा। हिन्दुस्तान की आपत्तियों एवं अन्यायों का एकमात्र उपाय स्वराज्य ही है और उसीको प्राप्त करने के लिए हमें लगातार प्रयत्न करते रहना चाहिए।"

कलकत्ते में दादाभाई का अपूर्व स्वागत हुआ। सीधी और स्पष्ट भाषा में उन्होंने कहा, "पुरानी पीढ़ी ने पचास-साठ वर्ष तक सतत परिश्रम करके आपके सामने यह सिद्धान्त रखा है कि हिन्दुस्तान के लोगों के दुःख स्वराज्य के बिना दूर नहीं हो सकते। इस सिद्धान्त को खयाल में रखते हुए आप कार्य करेंगे तो पुरानी पीढ़ी का किया हुआ सार्थक होगा।

"वैधानिक ग्रान्दोलन के बारे में मैं बिल्कुल निराश हुग्रा हूं। ग्रगर मेरी जगह कोई ग्रौर होता, तो वह बलवा शुरू कर देता।...हम किसीसे मेहरबानी नहीं चाहते, हमें न्याय चाहिए। हमें जो कुछ चाहिए वह सब एक शब्द में ग्रा जाता है; ग्रौर वह शब्द है 'स्वराज्य'।"

ग्रपने भाषण के ग्रन्त में देशवासियों से ग्रपील करते हुए उन्होंने कहा, "एक होजाग्रो, लगन से काम करो, ग्रौर सेल्फ गवर्नमेण्ट (स्वराज्य) प्राप्त करो। उसके द्वारा ही हम गरीबी, ग्रकाल, महामरी तथा भुखमरी से लोगों की रक्षा कर सकेंगे ग्रौर दुनिया की श्रेष्ठ तथा संस्कारी प्रजाग्रों में हमारा जो वास्तविक गौरवमय स्थान है, उसे प्राप्त कर सकेंगे।"

ददाभाई के भाषण के बारे में लिखते हुए तिलक ने लिखा है, "दादाभाई ने जब निश्चयपूर्वक, स्पष्टता से एवं सीधी-साधी भाषा में गद्गद् होकर यह कहा कि स्वराज्य के सिवा हमारे उद्धार का दूसरा कोई मार्ग नहीं है, तब क्षणभर के लिए तो ऐसा ग्राभास हुग्रा मानो कोई देवदूत हमारी वृद्ध पीढ़ी को ग्राखरी संदेश देने के लिए ग्रवतार लेकर ग्राया है।"

कलकत्ते की कांग्रेस में पास हुए प्रस्तावों की, जिन्हें तिलक ने 'स्वराज्य की चतुःसूत्री' कहा है, चार बातें मुख्य थीं। स्वराज्य एवं राष्ट्रीय शिक्षण के प्रस्ताव बिना किसी कठिनाई के पास हो गए। स्वदेशी के प्रस्ताव के बारे में "थोड़ा नुकसान सहन करके भी स्वदेशी माल को प्रोत्साहन देना चाहिए" इस वाक्य के विषय में कुछ विवाद हुग्रा। किन्तु ग्रसली झगड़ा छिड़ा बहिष्कार के प्रस्ताव पर। ग्रौर वह ग्रंत में "बंग-भंग के विरोध में बंगाल में जो बहिष्कार की प्रवृत्ति शुरू की गई है, वह उचित थी ग्रौर है", इस रूप में पास हुग्रा।

इस ग्रधिवेशन का सिंहावलोकन करते हुए तिलक ने लिखा है, "भीख मांगने का मार्ग यद्यपि पूरी तरह कांग्रेस ने नहीं छोड़ दिया है; तथापि स्वदेशी ग्रान्दोलन, बहिष्कार एवं राष्ट्रीय-शिक्षा का स्वावलंबी मार्ग उसने ग्रवश्य पूरी तरह से स्वीकार कर लिया है।"

ग्रंग्रेजी ग्रखबारों ने इस ग्रधिवेशन की टीका करते हुए कहा, "ग्राग बुझाने के लिए दादाभाई को ठेठ इंगलैण्ड से बुलाया गया, लेकिन ग्राग पर पानी डालने के बजाय उन्होंने उस पर मिट्टी का तेल डालकर उसे ग्रौर

भड़का दिया।"

अधिवेशन खत्म होने के बाद गरम दल के लोग उसके पास किये प्रस्तावों को कार्यान्वित करने के काम में जुट गए! कांग्रेस के मंडप में ही स्वदेशी सम्मेलन हुआ। उसमें पाल (विपिनचंद्र पाल), बाळ (बाळ गंगाधर-तिलक) और लाल (लाला लाजपतराय) के आलावा अन्य प्रांतों के कार्यकर्त्ता भी उपस्थित थे। बाद में पालबाबू की अध्यक्षता में तिलक का 'नया पक्ष और उसके मार्ग' विषय पर भाषण हुआ, जिसमें उन्होंने कहा, " 'नरम' और 'गरम', 'विनीत' और 'उग्र' ये शब्द सापेक्ष्य हैं। कल जो गरम थे, वे आज नरम प्रतीत होते हैं; और आज जो गरम हैं, वे कल नरम माने जायंगे। प्रगति का नियम ही ऐसा है। दादाभाई और डिग्वी आदि ने जो खोज की हैं, उनका उपयोग करके हमें आगे बढ़ना चाहिए। ...याचिकाओं और प्रार्थनाओं का कार्य छोड़कर जबतक हमें स्वराज्य नहीं मिलता, तबतक सरकार के साथ लड़ते रहना चाहिए।"

: ३३ :

स्वदेशी, बहिष्कार तथा राष्ट्रीय शिक्षा

कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में 'स्वदेशी' और 'बहिष्कार' के विषय में जो प्रस्ताव पास हुए, उनके संबंध में सारे देश में आन्दोलन शुरू हो गया। बंग-भंग के बाद इन दोनों विषयों को लेकर जो आन्दोलन शुरू हुए थे, वे बड़े वेगवान् साबित हुए। महाराष्ट्र में भी सब तरफ़ स्वदेशी और बहिष्कार की हवा फैल गई। महाराष्ट्र के स्वदेशी और बहिष्कार आन्दोलन का इतिहास वैसे भी बहुत पुराना है। १८४९ में 'लोकहितवादी' ने पहले-पहल इसका प्रतिपादन किया था। इस पत्र ने कहा था कि हमारे देश के दारिद्रय को मिटाने के लिए जो चीजें अंग्रेज यहां लाते हैं, उन्हें हमें स्वयं बनाना चाहिए। अंग्रेजों का बनाया माल खरीदना हमें बन्द कर देना चाहिए।

यद्यपि 'लोकहितवादी' ने स्वदेशी तथा बहिष्कार की बात १८४९ में देश के आगे रखी थी, पर वह उसी समय कार्यान्वित न की जा सकी।

२१ वर्ष बाद १८७० में पूना के सार्वजनिक काका तथा रानडे ने स्वदेशी उद्योग-धंधों की ओर लोगों का ध्यान दिलाया। सार्वजनिक काका तो इस विषय में इतने आग्रही थे कि वह अपने हाथ के कते हुए सूत की खादी ही पहनते थे।

किन्तु स्वदेशी के द्वारा स्वावलंबन-वृत्ति और प्रतिकार-शक्ति बनाने का श्रेय तिलक को ही देना पड़ेगा। लोकमान्य की पहली पुण्य-तिथि के समय लिखते हुए गांधीजी ने ठीक ही कहा था, "'स्वराज्य मेरा जन्म-सिद्ध अधिकार है' यह तिलक-गीता का पूर्वार्ध है; 'स्वदेशी हमारा जन्म निर्मित कर्त्तव्य है' यह उसका उत्तरार्ध है।"

सन् १८९६ में इंगलैण्ड से आनेवाले सूत पर ली जानेवाली चुंगी सरकार ने खत्म कर दी। साथ ही मेनचेस्टर के मिल मालिकों के हित में भारत में तैयार किये जानेवाले मोटे कपड़े पर ३॥ प्रतिशत चुंगी लगा दी।

तिलक ने लोगों से इसका विरोध करने की अपील की और कहा, "सरकार के इस अन्याय का प्रतिकार करना तो उसीके हाथ में है और इसके लिए उसे मजबूर करने का सबसे अच्छा तरीका स्वदेशी कपड़ा इस्तेमाल करना तथा विदेशी कपड़े का बहिष्कार करना है।"

बंग-भंग के बाद स्वदेशी और बहिष्कार का समर्थन करते हुए उन्होंने इन दोनों की प्रतिकार-शक्ति पर ही ज्यादा जोर दिया और लोगों को चेतावनी दी कि जिस तरह १८९८ में इंडियन पेनल कोड में सुधार करके सरकार ने राजद्रोह की व्याख्या ज्यादा व्यापक बनादी थी, उसी तरह स्वदेशी माल की हिमायत और विदेशी के बहिष्कार को भी सरकार राजद्रोह मानेगी। और स्वदेशी की हिमायत के कारण कई लोगों को उसका परिणाम भुगतना भी पड़ा। किन्तु तिलक ने लोगों को यह भी विश्वास दिलाया कि अगर लोग बहिष्कार-योग का दृढ़ता से आचरण करेंगे, तो सरकार के ये सारे प्रयत्न बेकार साबित होंगे।

हम पीछे देख चुके हैं कि महाराष्ट्र में स्वदेशी को प्रोत्साहन देने के लिए 'पैसा-फंड' की एक नई प्रवृत्ति शुरू की गई थी। इसके अनुसार एक-एक पैसा लेकर निधि इकट्ठा करने की और उसकी सहायता से दिया-सलाई, पेंसिल, साबुन, कांच की चीजें आदि बनाने के लिए छोटे-बड़े कार-

खाने स्थापित करने की योजना बनाई गई। तिलक ने इस प्रवृत्ति में काफ़ी दिलचस्पी ली। इसके परिणामस्वरूप वह बहुत कामयाब हुई। जहां-कहीं विवाह, जनेऊ आदि के निमित्त भोजन-समारोह होते, वहां पैसा-फंड का प्रतिनिधि आकर भोजन करनेवालों से उनको मिली दक्षिणा में से एक-एक पैसा इकट्ठा करके ले जाता। इसके द्वारा पूना के पास एक कांच का कारखाना भी शुरू किया गया। इसमें काम सीखकर कई लोगों ने आगे चलकर नये कारखाने स्थापित किये।

तिलक, आगरकर और विष्णुशास्त्री ने १८८० में जब 'न्यू इंग्लिश स्कूल' की स्थापना की थी, उस समय उनकी दृष्टि भी राष्ट्रीय ही थी। वे अच्छी तरह जानते थे कि देश के बालकों की शिक्षा देश के लोगों के हाथ में हो तो ही उसमें जान आ सकती है। ऐसी शिक्षा से लोगों में देश की संस्कृति, इतिहास आदि के बारे में गौरव की भावना पैदा की जा सकती है और स्व-देश, स्व-भाषा तथा स्व-धर्म की सेवा भी की जा सकती है। यह बात उन्होंने स्कूल की स्थापना के समय ही स्पष्ट कर दी थी कि उनका उद्देश्य ऐसी शिक्षा देना है जो उपरोक्त लक्ष्यों की प्राप्ति में योग दे। पर उस समय स्कूल ने सरकारी एवं सरकारी मान्यता-प्राप्त परीक्षाओं के लिए ही विद्यार्थियों को तैयार करने का काम शुरू किया था। अब २५ वर्ष बाद राष्ट्रीय शिक्षा की दिशा में एक कदम आगे रखा गया। यह पहले ही बताया जा चुका है कि बंगाल में 'नेशनल कौंसिल ऑफ एजुकेशन' और उसके नीचे की शिक्षा-संस्थाएं किस प्रकार स्थापित हुई थीं। महाराष्ट्र में भी इसी दृष्टि से पूना के निकट तलेगांव में 'समर्थ विद्यालय' नाम का एक विद्यालय शुरू किया गया जो सरकारी तंत्र से बिल्कुल स्वतंत्र था। बाद में 'महाराष्ट्र विद्या-प्रसारक मण्डल' नाम का एक शिक्षा-मण्डल भी स्थापित किया गया और समर्थ विद्यालय का संचालन उसीके सुपुर्द कर दिया गया। बौद्धिक शिक्षा के साथ कला-कौशल और उद्योग-धंधों के शिक्षण का प्रबंध भी वहां किया गया था, ताकि अध्ययन पूरा होने के बाद विद्यार्थी स्वावलंबी बनकर अपनी जीविका प्राप्त कर सकें। विज्ञान की शिक्षा पर भी काफी ध्यान देने की कोशिश की गई थी। इसके अलावा भारत की संस्कृति, धर्म, इतिहास तथा आधुनिक

राजनीति की भी जानकारी विद्यार्थियों को देना आवश्यक समझा गया था। इस प्रवृत्ति को प्रेरणा व मार्गदर्शन देने के अलावा उसके लिए द्रव्य की सहायता प्राप्त करने के लिए भी तिलक ने काफी प्रयत्न किये।

तिलक का इस बारेमें एक बड़ा आग्रह यह था कि राष्ट्रीय-शिक्षा स्व-भाषा के द्वारा ही दी जानी चाहिए। इस विषय में वह कहते थे, "समाज के व्यवहार, उसके विचार, उसके कार्य तथा उसकी भाषा, इन सबका संबंध इतना घनिष्ठ है कि किसी एक का प्रतिबिम्ब दूसरे पर पड़े बिना नहीं रह सकता। एक का विकास हुआ तो दूसरों का विकास, और एक का क्षय हुआ तो दूसरों का क्षय अनिवार्य हो जाता है। किसी भी देश का शिक्षित वर्ग विदेशी भाषा के द्वारा ज्ञान प्राप्त करे, यह उस देश की भाषा के विकास की दृष्टि से बड़े दुर्भाग्य और शोक की बात है। हमने अंग्रेजी भाषा सीखने के पीछे इतना समय व्यर्थ ही नष्ट किया। अगर हम मराठी भाषा द्वारा शिक्षा पाते, तो बावन वर्ष की आयु में जो ज्ञान हमने प्राप्त किया है, वह २५ या ३० वर्ष ही में प्राप्त कर लेते। अंग्रेजी भाषा के कारण हमारे जीवन के कई वर्ष बेकार जाते हैं। किसी भी देश की जनता को विदेशी भाषा के द्वारा शिक्षा देना उसे खस्सी कर देने जैसा है। इसी कारण ज्ञान का प्रसार मातृभाषा के द्वारा ही किया जाना चाहिए।"

: ३४ :

सूरत की कांग्रेस

दादाभाई नौरोजी के कुशल नेतृत्व तथा अध्यक्षता के कारण अगर गरम तथा नरम दल का झगड़ा न मिटता, तो बहुत करके कलकत्ता अधिवेशन में ही कांग्रेस के दो टुकड़े हो गए होते। उस समय तिलक का गरम दल जोरों पर था, अतः हो सकता था कि नरम दल के कांग्रेस से निकलने की नौबत भी आ जाती। स्वदेशी तथा बहिष्कार का प्रस्ताव पास होने पर फिरोजशाह मेहता ने चिढ़कर तिलक से कहा था, "ये प्रस्ताव आप कलकत्ते में पास करा सके हैं; पर बंबई में ऐसा करना असंभव होता।" तिलक ने भी उन्हें उसी तर्ज़ में जवाब दिया, "बंबई में होता तो क्या

होता ? वहां भी हम आपको देख लेते ।"

तिलक और फिरोजशाह मेहता, दोनों का अपने-अपने दलों में महत्त्व-पूर्ण स्थान था । इन दोनों की यह बातचीत यह स्पष्ट कर देती है कि यद्यपि दादाभाई के कारण ऊपरी तौर पर दोनों दलों में मेल हो गया था और कांग्रेस की फूट टल गई थी, पर वास्तव में दोनों अभी भी उतने ही दूर थे, और दोनों में किसी भी समय टक्कर हो जाने की सम्भावना बनी हुई थी ।

कलकत्ता-अधिवेशन में अगले अधिवेशन के लिए पंजाब और नागपुर की ओर से निमंत्रण दिये गए थे । नरम दल के समर्थकों का खयाल था कि लाला लाजपतराय के पंजाब में कांग्रेस का अधिवेशन करना खतर-नाक है, इसलिए उन्होंने नागपुर का निमंत्रण स्वीकार कर लिया । अधिवेशन के लिए नागपुर में स्वागत-समिति बनी । स्वागत-समिति के निर्माण के साथ नरम दल के वृद्ध नेताओं और गरम दल के युवकों, दोनों, के बीच झगड़ा शुरू हो गया । झगड़ा इतना बढ़ गया कि नरम दल के नेताओं ने नागपुर में अधिवेशन करने में अपनी असमर्थता प्रकट की । इस पर फिरोजशाह मेहता ने दोनों पक्ष के लोगों को बंबई बुलाया और यह निश्चय किया गया कि अधिवेशन सूरत में हो ।

ठीक इसी समय लाला लाजपतराय, जिन्हें मई में देश-निकाला दिया गया था, मांडले से रिहा होकर स्वदेश लौट आये । कई लोगों ने यह सुझाव दिया कि सरकार के प्रति असंतोष व्यक्त करने के लिए लालाजी को ही सूरत-अधिवेशन का अध्यक्ष बनाया जाय । लेकिन नरम दल के लोगों को यह बिल्कुल स्वीकार न था । इसलिए उन्होंने बड़ी जल्दी में स्वागत-समिति की बैठक बुलाकर रासबिहारी घोष का अध्यक्ष-पद के लिए चुनाव कर लिया । इसके बावजूद लोगों का आग्रह लाजपतराय के लिए ही रहा । आखिर गोखले स्वयं जाकर लालाजी से मिले और लालाजी ने अपनी स्वाभाविक नम्रता से कह दिया कि वह अध्यक्ष-पद नहीं चाहते । इस प्रकार लालाजी के इस कथन से अध्यक्ष-पद का यह विवाद खत्म हो जाना चाहिए था, पर गरम दलवाले फिर भी शांत नहीं हुए और उनका विरोध चलता ही रहा ।

जैसे-जैसे अधिवेशन का समय निकट आता गया, दोनों पक्ष के लोग सूरत पहुंचने लगे। तिलक और अरविन्द घोष १३ दिसम्बर की सुबह सूरत पहुंचे। दूसरे दिन लाजपतराय के पहुंचने पर राष्ट्रीय पक्ष (गरम दल) की एक सभा बुलाई गई, जिसमें बंगाल और महाराष्ट्र के प्रतिनिधियों ने, जिनमें अरविन्द घोष भी थे, आधारभूत मतभेदों पर जोर दिया। उन्होंने आग्रहपूर्वक कहा कि नरम दलवालों के साथ समझौता करने की बात छोड़कर राष्ट्रीय-पक्ष को अपनी अलग कांग्रेस स्थापित कर लेनी चाहिए। तिलक ने इसका विरोध किया और इसके विरुद्ध सलाह दी। उन्होंने कहा, "मैं तो आखिर समझौते का समर्थक हूं। मेरे विचार में तो राष्ट्रीय-पक्ष को कांग्रेस में ही रहना चाहिए।" आखिर लोकमान्य की सलाह मान ली गई।

अगले दिन गरम दल के नेताओं ने अपने विरोधी पक्ष के नेताओं के साथ मुलाकात करने का काफी प्रयत्न किया। लेकिन नरम दल के नेताओं ने मिलना नहीं चाहा। इधर तिलक के सामने एक बड़ी समस्या थी। समझौते की इच्छा होते हुए भी वह रासबिहारी बाबू के नाम से सहमत नहीं थे। उनकी समस्या यह थी कि उनकी जगह अध्यक्षता के लिए किसका नाम सुझाया जाय? साथ ही वह कांग्रेस में फूट भी नहीं चाहते थे। इसलिए उन्होंने यह निश्चय किया कि अगर नरम दलवाले यह आश्वासन दे दें कि कलकत्ता-अधिवेशन का प्रस्ताव कायम रहने दिया जायगा, तो गरम दल के लोग अध्यक्ष-पद के लिए कोई और नाम सुझाने का आग्रह छोड़ देंगे। उन्होंने सुरेन्द्र बाबू से भी यही बात कही। सुरेन्द्र बाबू ने कहा कि वह गोखले से पूछकर जवाब देंगे। पर उनकी तरफ से कोई जवाब मिला नहीं।

इस सिलसिले में तिलक ने स्वागताध्यक्ष त्रिभुवनदास मालवी से भी मिलने की कोशिश की, लेकिन उस दिन मालवीजी का पूजा-पाठ बहुत देर तक चला जिसके कारण उनसे मुलाकात न हो सकी।

२६ दिसम्बर को दोपहर के समय अधिवेशन आरंभ हुआ। नियोजित अध्यक्ष के नाम के प्रस्ताव का अनुमोदन करने के लिए जब सुरेन्द्र बाबू खड़े हुए, तब बंगाल के प्रतिनिधियों ने उनके विरुद्ध 'मिदनापुर ट्रेटर'

(मिदनापुर का गद्दार)[1] के नारे लगाये। इससे मंडप भर में शोर मच गया और गड़बड़ी फैल गई। अंत में स्वागताध्यक्ष ने खड़े होकर अधिवेशन अगले दिन तक मुल्तवी करने की घोषणा कर दी।

दूसरे दिन, यानी २७ तारीख की दोपहर को अधिवेशन फिर शुरू हुआ। तिलक ने स्वागताध्यक्ष मालवी के पास एक चिट्ठी भेजी कि अध्यक्ष-पद के प्रस्ताव का अनुमोदन हो जाने के बाद वह (तिलक) अध्यक्ष के चुनाव के बारे में कुछ कहना चाहेंगे और रचनात्मक उद्देश्य से सभा मुल्तवी करने का प्रस्ताव पेश करना चाहेंगे। उन्होंने इस प्रस्ताव को पेश करने का अवसर मांगा। सभा की औपचारिक कार्रवाई शुरू हुई। सुरेन्द्र बाबू ने बिना किसी दखल के अपना भाषण पूरा कर दिया। लोकमान्य ने मालवीजी को अपनी चिट्ठी की फिर से याद दिलाई। लेकिन उनकी प्रार्थना की अवमानना की गई। आज्ञा न मिलने पर तिलक सभा के सामने अपना प्रस्ताव पेश करने का अधिकार प्रस्थापित करने के लिए मंच की तरफ चले। एक स्वयंसेवक ने उन्हें रोका, इस पर उन्होंने उसे हटा दिया और मंच पर अध्यक्ष के पास रखी मेज़ के पास जाकर खड़े हो गए। घोष ने यह कहकर कि अध्यक्ष के चुनाव की रस्म पूरी हो गई है, तिलक को भाषण करने की आज्ञा देने से इन्कार कर दिया। इस पर सारे मंडप में कोलाहल मच गया। तिलक अपने स्थान पर डटे रहे और उन्होंने कहा, "मैं यहां से हटनेवाला नहीं हूं। अगर किसीमें हिम्मत हो, तो वह मुझे हटाने की कोशिश करे।" इतने में स्वागत-समिति में से किसीने उनकी तरफ़ जूता फेंका जो सुरेन्द्र बाबू को छूने के बाद फिराज़शाह मेहता को जाकर लगा। किसी दूसरे ने कुर्सी फेंकी। लेकिन वह दोनों से बच गए। इससे कोलाहल और बढ़ गया और हाथापाई शुरू हो गई। डंडे भी चले। फलतः शान्ति स्थापित करने के लिए पुलिस को आकर मंडप का कब्जा लेना पड़ा। इस प्रकार अधिवेशन का अंत हो गया।

---

[1]यह नारा थोड़े दिन पहले मिदनापुर में हुए एक जिला-सम्मेलन में सुरेन्द्र बाबू के व्यवहार के विरोध में लगाया गया था।

सूरत की इस दुःखद घटना पर और कांग्रेस की इस फूट पर दोनों दलों ने खेद प्रकट किया। अगर हम सारी बात पर केवल राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखकर विचार करें, तो यह मानना पड़ेगा कि यह फूट घातक थी, और गरम दलवालों को इस प्रकार कांग्रेस से निकालकर नरम दलवालों ने एक बड़ी गलती की थी, क्योंकि वास्तव में गरम दल वाले नरम दलवालों की अपेक्षा अधिक सक्रिय थे, और भविष्य में कांग्रेस को मजबूत करने की क्षमता भी उन्हींमें अधिक थी। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय आंदोलन के उस दौर में ऐसी फूट किसी भी तरह से हितकारी नहीं हो सकती थी।

इस फूट के बाद नरम दल ने सूरत में ही २८ दिसम्बर को कांग्रेस की एक सभा बुलाई। इस सभा में यह तय किया गया कि एक विशिष्ट ध्येय निश्चित किया जाय और उसके अनुसार कुछ नियम बनाये जायं। कांग्रेस में उनको पूर्णतः स्वीकार करनेवालों को ही लिया जाय।

गरम दलवालों ने भी उसी दिन अपने पक्ष को संगठित करने के लिए कलकत्ता अधिवेशन प्रस्तावों के अनुसार आगे काम करने के लिए एक सभा बुलाई। लोकमान्य कांग्रेस की फूट से बड़े दुःखी थे। वह इसी चिन्ता में थे कि दोनों दलों को किस प्रकार साथ लाया जाय। कुछ दिन के बाद उन्होंने इस विषय पर लिखते हुए कहा, "गरम और नरम दोनों दलों के लोगों को यह याद रखना चाहिए कि दोनों की इच्छा देश का कल्याण करने की ही है। दोनों के बीच मतभेद होना स्वाभाविक है। यह मतभेद केवल आवश्यक ही नहीं है बल्कि संस्था के आरोग्य के लिए पोषक भी है।...नरम दल को यह याद रखना चाहिए कि सरकार उसे गरम दल के अस्तित्व के कारण ही मान्यता देती है, और इससे उसे लाभ होता है। इसी तरह नरम दल की प्रतिष्ठा तथा मान्यता से गरम दल को भी लाभ हो सकता है। इसलिए अगर इस लाभ के साथ कुछ हानि भी हो तो उसे भी सहन करना जरूरी है।"

लोकमान्य के इन विचारों के बाद नरम दल के नेताओं के विचार भी जानने चाहिए। सूरत-कांग्रेस के नियोजित अध्यक्ष अपने भाषण में (जो वस्तुतः फूट हो जाने के कारण दिया नहीं गया था) कहते हैं,

"राष्ट्रीय पक्ष (गरम दल) एक आफत की तरह है। उसकी अशुभ छाया सारे देश पर छाई दिखती है। कांग्रेस की राजनीति में उसके लिए कोई जगह नहीं है। उसके लिए एक ही मार्ग है, और वह है कांग्रेस को छोड़-कर चले जाना।" इसका कारण देते हुए डॉ० घोष ने कहा, "आप लोग (गरम दल के प्रतिनिधि) इससे शायद इन्कार करेंगे, पर यह जरूरी है, क्योंकि मुझे डर है कि आप लोग धीरे-धीरे, किन्तु निश्चित रूप से, राजद्रोह की खाई में गिरने जा रहे हैं।"

अध्यक्ष के इन उद्‌गारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि नरम दल ने गरम दल को कांग्रेस से निकालने का पहले से ही निश्चय कर लिया था। ऐसी हालत में सूरत की फूट का दोष अकेले लोकमान्य तथा अन्य गरम-दली नेताओं के सिर पर मढ़ना उचित नहीं है।

: ३५ :

रचनात्मक कार्य बनाम आतंकवाद

सूरत से लोकमान्य तिलक के निमंत्रण पर अरविंद घोष बंबई और पूना गए। दोनों जगहों पर उनका बड़ी धूम-धाम से स्वागत हुआ। पूना में स्वदेशी, बहिष्कार तथा राष्ट्रीय शिक्षा पर भाषण देते हुए अर-विंद ने कहा, "राष्ट्र के वास्तविक एवं काल्पनिक दुर्गुणों या दोषों को सतत रटते रहने की अपेक्षा राष्ट्र में स्वाभिमान, सामर्थ्य और अपनी श्रेष्ठता के बारे में विश्वास पैदा करके लोगों को राष्ट्र-कार्य करने के लिए प्रवृत्त करना कहीं अधिक वांछित है। इन बातों के आधार पर ही श्री राम-कृष्ण परमहंस और विवेकानन्द ने बंगाल में जागृति फैलाने का काम शुरू किया था।" पूना से अरविंद नासिक, धूलिया आदि जगहों पर होते हुए बंगाल लौट गए।

सूरत की कांग्रेस के बाद महाराष्ट्र के गरमदली नेताओं को एक दैनिक अखबार की आवश्यकता का अनुभव हुआ। इस काम के लिए पचास हजार रुपये की पूंजी इकट्ठी करके 'नेशनल पब्लिशिंग कंपनी' नाम की संस्था स्थापित की गई। तिलक भी उसके डायरेक्टरों में एक

थे। 'राष्ट्रमत' नामक दैनिक पत्र के प्रकाशन का विज्ञापन किया गया। स्वदेश, स्वराज, स्वधर्म ग्रौर स्वावलंबन, ये चार इस पत्र की नीति के स्तम्भ थे। पत्र का उद्देश्य इनके द्वारा गरम दल के सिद्धान्तों का प्रचार करना था।

यह बताया जा चुका है कि इसी समय के ग्रास-पास राष्ट्रीय शिक्षा के लिए 'महाराष्ट्र विद्या-प्रसारक मण्डल' की स्थापना की गई थी। राष्ट्रीय-शिक्षा के निमित्त चन्दा इकट्ठा करने के लिए तिलक ने प्रो० बिजापुरकर, डॉ० देशमुख ग्रादि के साथ महाराष्ट्र का दौरा किया ग्रौर लगभग पचास हजार रुपये इकट्ठा किये।

मार्च में पूना ज़िला परिषद् हुई। इसमें नरम दल के लोग भी शामिल थे। पर परिषद् में गरम दल के कार्यक्रम का ही ग्रनुमोदन किया गया। राष्ट्रीय शिक्षा ग्रौर शराबबंदी पर खास ज़ोर दिया गया। मद्यपान के विषय में भाषण देते हुए तिलक ने कहा, "विदेशी सरकार यहां शांति ग्रौर व्यवस्था कायम रखने का काम भले ही करती रहे, पर उसे हमें नीति सिखाने के झंझट में नहीं पड़ना चाहिए। शराब-बंदी हिन्दुग्रों की नीति का एक खास ग्रंग है। इसे ग्रार्थिक लाभ-हानि के विचार से हुए सरकारी हस्तक्षेप के बिना कार्यान्वित करना चाहिए। ...हिन्दुस्तान के नौजवानों का शराबबंदी के बारे में विशेष कर्त्तव्य है। हर नौजवान को यह समझना चाहिए कि उसने यदि शराब का एक ग्रड्डा भी बंद करा दिया तो उसे स्वर्ग प्राप्ति-सा फल मिलेगा। इस काम के लिए तो जरूरत पड़ने पर उसे मरने के लिए भी तैयार रहना चाहिए।...ग्रगर हम शराबबंदी जैसा ग्रासान काम भी न कर सके, तो हम स्वराज्य के ग्रयोग्य सिद्ध होंगे।"

परिषद् के बाद शराब के ग्रड्डों पर धरना देने (पिकेटिंग) का ग्रान्दोलन ज़ोरों से चल पड़ा।

वैसे शराबबंदी का ग्रान्दोलन महाराष्ट्र में १६०५ में ही व्यवस्थित रूप से शुरू हो चुका था। लवाटे नामक एक सज्जन ने इसी काम को ग्रपने जीवन का उद्देश्य बनाकर जगह-जगह पर शराबबंदी के समर्थन में भाषण देना शुरू किया। जगह-जगह पर इसके बारे में प्रस्ताव भी पास

किये गए।

१९०७ में पूना में 'मद्यनिषेध-सभा' की स्थापना हुई, जिसमें गरम, नरम, मिशनरी आदि सभी दलों और विचारों के लोग शामिल थे। सरकारी कॉलेज के प्रिन्सिपल डॉ० मैन भी इसके सदस्य थे। कई युवकों ने स्वतः-प्रेरणा से पिकेटिंग शुरू की। वे शराब पीनेवालों से शराब न पीने की सभी तरह से प्रार्थना करते। इसके लिए वे शराबियों की गालियां, अपमान आदि सब बड़ी शांति से सहन करते थे। लेकिन सरकार को यह बात बिल्कुल पसंद न थी। उसने इन पर सार्वजनिक रास्ते पर शांति भंग करने का आरोप लगाकर मुकदमे दायर कर दिये और कई पर जुर्माने भी किये गए। शराब के अड्डेवाले कानून अपने हाथ में लेकर स्वयंसेवकों को मारने-पीटने लगे। फिर भी यह आन्दोलन बढ़ता ही गया और महाराष्ट्र के अन्य जिलों में भी फैल गया।

पूना में २३ अप्रैल को इसके संबंध में भांडारकर की अध्यक्षता में एक विराट् सभा हुई, जिसमें सभी पक्षों के लोग शामिल थे। अपने भाषण में भांडारकर ने कहा कि जब यह बात सरकार को मान्य है कि लोग शराबी न बनें, तो समझ में नहीं आता कि उन्हें शराब न पीने का उपदेश करना उसे क्यों बुरा लगता है। लोकमान्य तिलक ने इस बारे में बताया कि पूना नगरपालिका की सालाना आय चार लाख रुपये की है, जबकि शराब की सालाना बिक्री सात लाख रुपये की होती है। शराबबंदी आन्दोलन से सरकार खूब चिढ़ी और एंग्लो-इण्डियन अखबारों ने तिलक के अलावा भांडारकर की भी टीका करना शुरू कर दिया। आबकारी कमिश्नर ने गवर्नर को भेजी हुई अपनी रिपोर्ट में कहा, "अब यह कहने का समय आ गया है कि पूना में अंग्रेजों का राज्य खतम होकर तिलक का राज्य शुरू होगया है। अगर यह आन्दोलन बंद न हुआ तो आज जैसे शराब के अड्डे बंद हो रहे हैं, वैसे ही कल सरकारी कचहरियां भी बंद हो जायंगी। फिर क्या होगा?" सरकार ने इस आन्दोलन का अर्थ यह किया कि शराबबंदी का उपदेश केवल बहाना है। यह कोई लोकहित की परोपकारी प्रवृत्ति नहीं है, वरन शुद्ध राजनैतिक आन्दोलन है। इसके अलावा इससे सरकार का लाखों रुपये के नुकसान को भी खतरा होगया।

आन्दोलन इस तरह से बढ़ता ही गया और सरकार उसको दबाने का बहाना भी ढूंढ़ने लगी।

सूरत की कांग्रेस भंग होने के बाद संयुक्त-कांग्रेस बनाने के बारे में पहली बार चर्चा फरवरी मास में पवना की अखिल बंगाल प्रांतीय परिषद् में हुई। परिषद् के अध्यक्ष रवीन्द्रनाथ ठाकुर थे। इसमें दोनों दलों के लोग काफी संख्या में मौजूद थे। काफ़ी वाद-विवाद भी हुआ। कलकत्ते के चारों प्रस्ताव परिषद् में भी पास हुए। बंगाल के गरम और नरम दलों के बीच ऐसी एकता देखकर तिलक को आशा बंधी कि संभवतः अन्यत्र भी दोनों दलों के बीच इसी प्रकार समझौता हो जायगा। लेकिन इसी बीच इलाहाबाद में नरमदलियों का सम्मेलन हुआ और उसमें कुछ ऐसे प्रस्ताव पास किये गए, जो गरम दल को बिल्कुल मान्य न थे।

अप्रैल में पंद्रहवीं प्रान्तीय परिषद् धूलिया में हुई। यहां भी गरम दल का ही जोर रहा। तिलक ने कांग्रेस की एकता के लिए संयुक्त-कांग्रेस का प्रस्ताव पेश किया, जो स्वीकार कर लिया गया और बंबई इलाके में इस काम के लिए एक समिति नियुक्त की गई। इसके बाद तिलक गरम-दल के सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए खानदेश और बर्हाड का दौरा करने चले गए।

बंग-भंग के बाद एक ओर जबरदस्त जन-आन्दोलन ने और दूसरी ओर सरकार के दमन ने जोर पकड़ा। सरकार ने प्रेस-एक्ट जैसे कड़े कानून बनाकर राष्ट्रीय प्रवृत्तियों को दबाना चाहा। बंगाल, महाराष्ट्र और पंजाब में सभी जगह खुफ़िया पुलिस का जाल फैला दिया गया। बंगाली क्रान्तिकारियों के 'युगान्तर', 'संध्या', 'नवशक्ति' तथा 'वंदे-मातरम्' पत्रों पर मुकदमे दायर कर दिये गए और उनके संचालकों को सजाएं दी गईं। किन्तु उनके लेखों की उग्रता किसी तरह कम न हुई। इसलिए एक नया प्रेस-कानून बनाया गया और उसके द्वारा इन अखबारों को ज़ब्त करके उनके मुद्रणालयों को सरकारी कब्जे में ले लिया गया। लेकिन इससे भी राष्ट्रीयता का दौर धीमा नहीं पड़ा। १ जनवरी १९०८ को बंबई में भाषण देते हुए अरविंद घोष ने कहा, "राष्ट्रीयता अब दबनेवाली नहीं है। वह अमर है। वह मरनेवाली इसलिए नहीं है कि वह

कोई मानव-रचित वस्तु नहीं है। आज ईश्वर स्वयं बंगाल में राष्ट्रीयता के रूप में काम कर रहा है। ईश्वर को नहीं मारा जा सकता और न उसे जेल में बंद करके शांत ही किया जा सकता है।"

इधर देश में और खासकर बंगाल में आतंकवाद का जोर बढ़ गया। आतंकवादियों के अनेकों गुट ब्रिटिश सत्ता से जूझ रहे थे। ऐसी ही परिस्थिति में ३० अप्रैल के दिन मुज़फ्फरपुर में सेशन्स जज किंग्सफर्ड पर बम फेंका गया। पर बम उनसे कुछ दूर मिसेस केनेडी और मिस केनेडी पर पड़ा, जिससे वे दोनों मर गईं। इससे चारों ओर भय का वातावरण फैल गया। अनेक बंगाली युवक गिरफ्तार किये गए। 'पायोनियर' और 'एशिया' जैसे एंग्लो इण्डियन अखबार बदले की पुकार करने लगे। राजनिष्ठ एवं नरम लोग डर गए। सरकार भी घबरा गई। यह उचित ही था कि ऐसी हालत में 'केसरी' जैसा अखबार अपना दिमाग ठिकाने पर रखकर परिस्थिति की संयत मीमांसा करने का काम करे। तिलक ने कहा, "निराशा से पैदा हुई आतंकवाद और बम-बाजी की यह प्रवृत्ति देश का दुर्दैव है। और इसका कारण है सरकारी जुल्म, जिसका आतंकवाद स्वाभाविक परिणाम है।" उन्होंने यह भी बताया कि इस प्रवृत्ति को समाप्त करने के लिए क्या करना चाहिए।

२२ मई को तिलक तथा महाराष्ट्र के २४ अन्य राष्ट्रीय (गरम) नेताओं ने एक संयुक्त वक्तव्य द्वारा मुज़फ्फरपुर में सरकारी दमन और ज़्यादतियों का विरोध करते हुए कहा कि दमन या जुल्म करने से कोई नतीजा नहीं निकलेगा। यह प्रवृत्ति लोगों की शिकायतों का शीघ्र निराकरण करने से, उनकी मांगें पूरी करने और उनकी आशा-आकांक्षाएं संतुष्ट करने से ही रुक सकेगी।

लेकिन नौकरशाही का विचार कुछ और ही था। सरकार समझती थी कि वर्त्तमान वातावरण राजनैतिक आन्दोलन करनेवाले लोगों के लेखों तथा भाषणों के परिणाम से ही पैदा हुआ है। अतः उसने इसके लिए अपना ही रास्ता अपनाया। कई विरोधी अखबारों पर मुकदमे दायर किये गए। कई गिरफ्तारियां भी हुईं। २४ जून १९०८ के दिन 'केसरी' के संपादक लोकमान्य तिलक को भी गिरफ्तार कर लिया गया।

: ३६ :

राजद्रोह का दूसरा मुकद्मा

२४ जून १९०८ को बंबई के तत्कालीन गवर्नर सर जॉर्ज क्लार्क (बाद में लॉर्ड सिडनहम) की आज्ञा से तिलक को बंबई में, जहां वह अपने मित्र 'काळ' के संपादक प्रो० शिवराम महादेव परांजपे (जिन्हें राजद्रोह के अभियोग में १२ जून को गिरफ्तार कर लिया गया था) की जमानत के सिलसिले में आये हुए थे, गिरफ्तार कर लिया गया।

तिलक को बंबई के लिए रवाना होते समय ही पता चल गया था कि उन्हें बंबई में गिरफ्तार कर लिया जायगा। उनके एक मित्र ने, जो यह खबर देने आये थे, उन्हें यह सलाह दी कि वह वापस घर लौट कर कुछ व्यवस्था करनी हो तो करलें और बंबई उसके बाद जायं। तिलक ने कहा, "घर जाकर कौन बड़ी फौज या युद्ध-सामग्री इकट्ठी करनी है या किलेबंदी करनी है ? सरकार ने सारे देश को ही जेल बना डाला है। इतना ही होगा न कि वह मुझे एक बड़े कमरे की जगह छोटे कमरे में डाल देगी ? उसके लिए क्या तैयारी करनी है ?"

जिस दिन तिलक की बंबई में गिरफ्तारी हुई, उसी दिन वहां के कुछ पुलिस अधिकारी पूना गए और वहां की पुलिस को साथ लेकर उन्होंने तिलक के मकान तथा 'केसरी'-कार्यालय पर छापा मारकर दोनों स्थानों की बड़ी बारीकी से तलाशी ली और कुछ कागज़-पत्र अपने कब्जे में ले लिये। तिलक के सिंहगढ़ के मकान की भी तलाशी ली गई, लेकिन वहां कोई आपत्तिजनक चीज़ पुलिस के हाथ नहीं लगी।

दूसरे दिन सवेरे लोकमान्य प्रेसिडेंसी मजिस्ट्रेट मि० एस्टन के सामने पेश किये गए और उन पर १२ मई के 'केसरी' में लिखे 'देशाचें दुर्दैव' (देश का दुर्दैव) शीर्षक लेख के लिए भारतीय दंड-संहिता की धारा १२४ 'अ' तथा १५३ 'अ' को भंग करने का अभियोग लगाया गया। मुकदमे की पेशी २९ जून को रखी गई। जमानत की अर्ज़ी नामंजूर कर दी गई। शायद १२ तारीखवाला लेख तिलक को अपराधी

ठहराने के लिए नाकाफी साबित हो, इस खयाल से उनके ९ जून के 'हे उपाय टिकाऊ नाहींत' (ये उपाय टिकाऊ नहीं हैं) शीर्षक लेख के आधार पर उनके विरुद्ध एक और मामला दर्ज किया गया। दोनों मामलों का मुकदमा साथ-साथ चला और मुकदमा बंबई हाईकोर्ट के फौजदारी सेशन्स कोर्ट में भेज दिया गया। यहां भी मिलक की तरफ से जमानत के लिए अर्ज़ी पेश की गई। अर्ज़ी पर विचार २ तारीख को हुआ। ११ वर्ष पूर्व पहले राजद्रोह के मुकदमे में तिलक की ओर से उनके वकील की हैसियत से पैरवी करनेवाले बैरिस्टर दावर ही आज न्याय-सिंहासन पर विराजमान थे। उस समय न्यायमूर्ति तैयबजी के सामने उन्होंने यह दलील दी थी कि ज़मानत की अर्ज़ी अस्वीकार करने का यही कारण हो सकता है कि अभियुक्त को छोड़ देने में यह भय रहता है कि वह मुकदमे की पेशी के वक्त अदालत में हाज़िर होगा या नहीं; लेकिन समुचित जमानत लेकर इस भय को खत्म किया जा सकता है। अबकी बार तिलक की पैरवी मोहम्मद अली जिन्ना (बाद में पाकिस्तान के संस्थापक) कर रहे थे। उन्होंने भी यही दलील की। पर दावर साहब ने यह कहकर अर्ज़ी नामंजूर कर दी कि "यही बात काफी नहीं है कि अभियुक्त पेशी पर अदालत में हाजिर हो जायगा।...तिलक को जमानत पर रिहा करना समझदारी की बात नहीं होगी। इतना ही नहीं, बल्कि मैं उन्हें क्यों नहीं छोड़ सकता, इसका कारण बताना भी मैं उचित नहीं समझता।"

३ जुलाई को सरकारी वकील ने यह कहकर कि मुकदमा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, स्पेशल जूरी की मांग की। स्पेशल जूरी में अधिकतर यूरोपियन लोग ही होते थे, जो मराठी नहीं जानते थे। इसलिए तिलक की ओर से उसका विरोध किया गया। किन्तु न्यायाधीश दावर ने 'अभियुक्त के हित' की दृष्टि से स्पेशल जूरी का हुक्म दे दिया। मुकदमे की अगली पेशी १३ जुलाई की घोषित की गई।

पेशी के दिन तिलक को जेल से हाईकोर्ट तक लाने ले जाने में कोई गड़बड़ न पैदा हो, इस खयाल से उन्हें १२ जून की रात को ही हाईकोर्ट लाकर रख दिया गया और उन पर गोरे सैनिकों का पहरा लगा दिया गया।

जूरी के सम्मुख दिया जानेवाला बयान तैयार करने में तिलक ने बड़ी मेहनत की । एक वर्णन के अनुसार "कमरे में एक मेज़ पर पुस्तकों का ढेर लगा था । पास ही कागज के टुकड़े रखे थे । बाहर एक गोरा पहरा दे रहा था । रात को नौ-साढ़े नौ के बाद तिलक ने अपना बयान तैयार करना शुरू किया । विचार-मग्न होकर वह धीरे-धीरे कमरे में दो-तीन चक्कर लगाते, उस ढेर में से पुस्तक उठाकर जरूरी पृष्ठ खोलते और वहां कागज का पुर्जा रखकर पुस्तक को मेज़ पर रख देते । फिर विचार करते-करते दो-तीन चक्कर लगाते, दूसरी पुस्तक लेते, उसमें चिह्न रखते और उसे अलग रख देते । घंटों यही क्रम चलता रहा । बेचारे गोरे को नींद सताने लगी । यह देखकर लोकमान्य बोले, 'नींद आती हो तो सो जाओ । मैं भाग नहीं जाऊंगा ।'

"गोरा सो गया । लोकमान्य का काम अब भी चालू था । पांच बजे उन्होंने अन्तिम पुस्तक में कागज का पुर्जा रखा और सोये हुए गोरे को आवाज़ देकर बोले, 'मैंने अपना काम समाप्त कर दिया है । अब मैं ज़रा आराम करूंगा ।' गोरा आँखें मलता हुआ उठा और पहरा देने लगा । लोकमान्य तुरन्त गहरी नींद में सो गए ।"

१३ जुलाई को मुकदमा शुरू हुआ । सरकार की ओर से एडवोकेट जनरल की सहायता के लिए तीन और वकील थे । तिलक अपनी पैरवी खुद कर रहे थे । खापर्डे, करंदीकर, बाप्टिस्टा आदि उन्हें सहायता दे रहे थे । दो लेखों के खिलाफ लगाये चार आरोपों का मुकदमा एक साथ चलाने का तिलक की ओर से विरोध किया गया । सरकारी वकील ने एक आरोप वापस लेकर विरोध का निराकरण कर दिया । शुरू में ही तिलक ने आक्षेपवाले लेखों के अनुवाद के बारे में आपत्ति उठाते हुए कहा "इस अनुवाद में बहुत-सी गलतियां हैं और इनके आधार पर लगाये आरोपों का मैं सख्त विरोध करता हूं ।" इसके बाद जूरी का चुनाव हुआ । छह यूरोपियन, एक यहूदी और दो पारसी जूरी चुने गए ।

सरकारी वकील ने अपना काम कोई एक बजे शुरू किया । दंड-संहिता की जिन धाराओं के आधार पर आरोप लगाये गए थे, उनकी उन्होंने व्याख्या की और जिन लेखों के खिलाफ आरोप लगाये गए थे,

उनके करीब-करीब सभी वाक्यों का विवेचन किया। पहले लेख के शीर्षक 'देशाचें दुर्दैव' का अर्थ उन्होंने यह लगाया कि वस्तुतः यहां जो अंग्रेजों का राज्य है, वही देश का दुर्भाग्य है। इसके बाद इन लेखों के अनुवादक जोशी की गवाही ली गई। तिलक ने जोशी से सख्त जिरह की और अनुवाद की असंख्यों गलतियों की ओर अदालत का ध्यान खींचा।

इसके बाद में तिलक के मकान और 'केसरी'-कार्यालय की तलाशी में जब्त की सामग्री पेश की गई। मेज़ की दराज़ से बरामद एक कोरा पोस्टकार्ड अदालत में गवाही के समय पेश किया गया, जिस पर विस्फोटक पदार्थों से सम्बन्धित दो पुस्तकों के नाम लिखे हुए थे। तिलक के विरोध के बावजूद अदालत ने उसे सबूत में शामिल कर लिया। पोस्टकार्ड की सफाई देने के लिए तिलक ने अलग-अलग अखबारों की कतरनें पेश कीं। नतीजा यह हुआ कि उनका जवाब देने का अधिकार भी चला गया।

तीसरे दिन तिलक ने अपना लिखित बयान दिया। यह बयान कुल मिलाकर साढ़े चार दिन यानी २१ घंटे १० मिनट चला। उसमें लोकमान्य ने राजद्रोह के कानून, आपत्तिजनक लेखों के उद्देश्य, अनुवाद की भूलें, जूरी के कर्त्तव्य और अधिकार, मुद्रण-स्वातंत्र्य, भारत की राजनैतिक परिस्थिति आदि विषयों का बड़े मौलिक ढंग से विवेचन किया। नीचे उसके कुछ अंशों का सार दिया जा रहा है :

"मेरे मराठी लेखों के अंग्रेजी अनुवाद के आधार पर मुझ पर जो इलज़ाम लगाये गए हैं, वे बिल्कुल अनुचित हैं। मेरे मूल मराठी लेख और यहां पेश किये गए उनके अनुवाद, दोनों बिल्कुल अलग-अलग चीज़ हैं। आपको (जूरीगण को) न तो हमारे समाज का कोई ज्ञान है और न हमारी भाषा ही आप जानते हैं। इसलिए इस अनुवाद के बल पर ही यदि आप मुझे अपराधी ठहरायें, तो यह एक भयंकर बात कही जायगी।

"जिस धारा (धारा १२४ 'अ') के आधार पर मुझ पर इलज़ाम लगाया गया है, उसके वस्तुतः दो भाग होते हैं। पहला भाग है सम्राट या कानून द्वारा प्रस्थापित सरकार के प्रति द्वेष, तिरस्कार या अप्रीति पैदा करना। किन्तु ऐसा कोई इलज़ाम मुझ पर लागू नहीं हो सकता, क्योंकि विरोधी

पक्ष द्वारा मेरे ऐसे किसी काम का सबूत नहीं दिया गया है। धारा का दूसरा भाग द्वेष, तिरस्कार या अप्रीति पैदा करने के 'प्रयत्न' के सम्बन्ध में है। यह प्रयत्न तो कानून की निश्चित भाषा में तभी हुआ माना जायगा जबकि व्यक्ति के मन में गुनाह करने का स्पष्ट हेतु हो और उसकी सिद्धि के लिए उसने भरसक कोशिश की हो, चाहे उसमें वह अपने वश के बाहर के कारणों की वजह से कामयाब न हो सका हो। 'कृत्य का स्वाभाविक परिणाम ही कृत्य के पीछे रहे मानव का हेतु होता है' इस सामान्य व्यावहारिक सिद्धान्त के आधार पर यहां चलना उचित नहीं। परिस्थिति का विचार करके हेतु प्रस्थापित करना चाहिए। मगर यहां हेतु सिद्ध करने की जिम्मेदारी अभियुक्त के सिर डाली गई है।

"मैंने ये लेख एक जिम्मेदार पत्रकार की हैसियत से देश में आजकल व्याप्त आतंकवाद तथा बम-बाजी की लहर और मुज़फ्फरपुर के दुःखद बमकांड के बारे में लिखे थे। इन लेखों के लिखने का एक उद्देश्य तो देश की वर्त्तमान परिस्थिति का विवरण देकर उसके लिए सरकार को उचित कदमों की सलाह देना था। इसके सिवा, बमकांड के बारे में देश के एंग्लो-इण्डियन अखबारों और इंगलैण्ड के अखबारों ने जो गलत टीका की थी, उसका जवाब देना भी मेरा कर्त्तव्य था। ऐसे वक्त पर अगर आप लोग पत्रकार होते तो क्या करते? ऐसी नाजुक घड़ी में क्या आप बम की बात को एक ओर रखकर वेदान्त, मिस्र के एकाध शिलालेख अथवा किसी नवीन वैज्ञानिक खोज के बारे में लिखकर संतोष मान लेते? हम लोग केवल पैसा कमाने की दृष्टि से ही अखबार नहीं चलाते, बल्कि मौजूदा विषयों की और सार्वजनिक प्रश्नों की खुली चर्चा करके लोकमत जाग्रत करने के लिए चलाते हैं।

"केवल मेरी टीका के आधार पर इलज़ाम लगाना संकुचित मानस का लक्षण माना जायगा और उसके लिए दण्ड देने को तो क्रूरता ही कहा जायगा। पत्रकार के सिर पर भारी जिम्मेदारी होती है। उसमें जोखिम भी अवश्य है, मगर उसे पार किये बिना तो चारा ही नहीं। बमकांड के बारे में जो चर्चा चल रही थी, उसके एक अंग के रूप में ही मैंने अपना लेख लिखा था। 'पायोनियर' जैसे एंग्लो-इण्डियन अखबारों का यह कहना

है कि उस आन्दोलन का, जिसका पर्यवसान बम-बाजी है, सूत्रपात करने-वालों में अग्रिम हैं विधान सभाओं के हिन्दुस्तानी सदस्य। दूसरे नम्बर पर हैं दो खराब वस्तुओं में से कम खराब वस्तु को स्वीकार करने की दृष्टि से अंग्रेजी राज्य का स्वागत करनेवाले कांग्रेस के नरम दलवाले नेता, तीसरे नम्बर पर हैं स्पष्ट बोलनेवाले गरम दल के उग्र लोग। उसके बाद आते हैं देशी भाषा के पत्रकार और अन्त में आते हैं बम-बाजी को अपनानेवाले भावनाप्रधान नौजवान। अतः इस आन्दोलन के पीछे इन तमाम लोगों का हाथ है, इसलिए वह पत्र सुझाता है कि प्रत्येक बड़े शहर या जिले में, जहां-कहीं उथल-पुथल मचानेवाले अथवा सामाजिक जीवन को हानि पहुंचानेवाले आतंकवादी (टेररिस्ट) लोग हों, उन सबको एक साथ गिरफ्तार करके ऐसी चेतावनी देनी चाहिए कि 'अगर तुम्हारे शहर या जिले में फिर कभी दुबारा ऐसी भयानक दुर्घटना हुई और एक भी आदमी की जान गई तो तुम लोगों में से दस को गोली से उड़ा दिया जायगा।'

"इस प्रकार जब एंग्लो-इण्डियन पत्र आवेश में आकर जैसा मन में आये वैसा लिखते हों, तब हमारे लिए उनकी दलीलों का खंडन करके सरकार को उचित मार्ग सुझाने का अपना फर्ज बजाना जरूरी हो जाता है। मेरा यह दृढ़ मत है कि लोकमत की उपेक्षा करके बंगाल का जो विभाजन किया गया है, स्वदेशी और बहिष्कार के आन्दोलन उसीके परिणाम-स्वरूप पैदा हुए हैं और अगर सरकार का यह खयाल हो कि आतंकवाद और बम-बाजी जैसी अनर्थकारी प्रवृत्तियां स्वदेशी और बहिष्कार आन्दोलन से पैदा होती हैं, तो फिर वह उसके असली कारण, उस विभाजन, को ही सबसे पहले क्यों नहीं रद्द करती? मुजफ्फरपुर में बम फैंका गया। मेरी दृष्टि में यह एक दुर्दैव है, एंग्लो-इण्डियन पत्रों का कठोर भाषा में बेल-गाम होकर वाहियात टीका करना यह भी एक दुर्दैव है, और सरकार का दमन-नीति का अनुसरण यह भी एक दुर्दैव है, सभी तरह के दुर्दैव को दिखाने के लिए ही मैंने अपने लेख का शीर्षक 'देशांचे दुर्दैव' रखा था। लेकिन 'पायोनियर' ने उसका कैसा विपर्यास किया! दिमाग ठिकाने न होने के कारण ही एंग्लो-इण्डियन पत्रों का तर्कशास्त्र (गलत तर्क-

शास्त्र) मर्कटशास्त्र बन गया है ।

"आप मुद्रण-स्वातंत्र्य के रक्षक हैं। मैं यहां न्याय मांगने के लिए खड़ा हूं, न कि दया की भीख मांगने के लिए। मैं यह अच्छी तरह जानता हूं कि सरकार मुझ पर नाराज़ है, मगर इस बिनाह पर यह नहीं कहा जा सकता कि मुझे न्याय नहीं मिलना चाहिए। सरकार का अभिप्राय क्या है, इसकी परवाह किये बिना आपको अपना मत स्पष्ट रूप से देना चाहिए।

"न्यायाधीश जिस तरह से अपने फैसले के द्वारा कानून को विशिष्ट रूप प्रदान करता है, उसी प्रकार जूरी भी कर सकती है। राजद्रोह का हेतु था या नहीं, यह निश्चय करने का काम जूरी का ही है। सरकार की शासन-पद्धति के बारे में शिकायत करना और राजकाज में हिस्सा मांगना, कोई राजद्रोह नहीं माना जायगा।

"कोई कह सकता है, आपको यदि सरकार को सलाह ही देनी थी, तो किसी योग्य अधिकारी के पास जाकर रू-ब-रू अपनी बात कहते। लेकिन पत्रकार का यह काम नहीं है और न मैं यही जानता हूं कि यदि मैं उनसे मुलाकात करने की कोशिश करूं तो वह मेरे साथ कैसे पेश आयंगे।

"विरोधी पक्ष के बैरिस्टर ने कहा है कि मैं सत्ता चाहता हूं। ठीक है, मुझे, यानी लोकपक्ष को, सत्ता जरूर चाहिए। यह बात मैंने शक्ति-विभाजन आयोग के सामने भी कही थी। स्वराज्य के लिए लड़ने से ही राजद्रोह का अपराध नहीं होता। (कलकत्ता हाईकोर्ट का ऐसा एक फैसला भी है)।

"कुछ लोग कहते हैं कि अगर मैं बम-बाजी का विरोध करता हूं तो सरकार की दमन-नीति के पक्ष में क्यों नहीं बोलता? जैसे और कोई मार्ग ही न रहा हो। यह नहीं कहा जा सकता कि बंगाल के युवक अराजकतावादी (अनार्किस्ट) या विध्वंसक हैं। मैंने उनमें से कितने ही युवकों को जेल में सड़ते हुए देखा है; लेकिन मुझे ऐसा एक भी युवक नहीं दिखाई दिया, जिसे स्वतंत्रता से प्रेम न हो, जिसे कानून या व्यवस्था बिल्कुल पसन्द न हो या जिसे नियंत्रित राज्य-सत्ता की आवश्यकता

महसूस न होती हो।

"सबूत के तौर पर पेश पोस्टकार्ड के बारे ने मेरा कहना यह है कि विस्फोटक पदार्थों के सम्बन्ध में जो कानून बना था, उस पर मुझे टीका करनी थी, इसलिए किसी पुस्तक-सूची में से मैंने दो पुस्तकों के नाम मय कीमत के लिख लिये थे। यदि इसके पीछे मेरा कोई गुप्त हेतु होता, तो उस कार्ड को मैं इस प्रकार दूसरे सामान्य कागजों में नहीं डाल देता।

"धारा १५३ 'अ' के अनुसार मुझ पर दो जातियों के बीच कटुता फैलाने का प्रयत्न करने का इलज़ाम लगाया गया है। मगर यह नहीं बताया गया कि किन दो जातियों के बीच और किस उद्देश्य से ?

"मेरे कहने का आशय क्या था, इसका स्पष्टीकरण मैं ही सबसे अच्छी तरह से कर सकता हूं। यही कारण है कि मैंने अपने मामले की पैरवी भी अपने आप ही की है।

"मैं निर्दोष हूं, इसका मुझे पूर्ण विश्वास है। मैं आप लोगों से इस मामले में न्याय की प्रार्थना करता हूं। यह प्रार्थना किसी व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए मैं नहीं कर रहा, बल्कि मैंने जो काम अपने हाथ में लिया है उसे सिद्ध करने की दृष्टि से कर रहा हूं। जिस काम के बारे में आपको अपना निर्णय देना है वह बड़ा पवित्र है।"

लोकमान्य के बयान के बाद एडवोकेट जनरल ने कहा, "अभियुक्त ने व्यर्थ ही इतना कीमती समय नष्ट किया। अभियुक्त का कहना है कि आप लोग मुद्रण-स्वातंत्र्य के रक्षक हैं। कैसी वाहियात बात है ! आप तो भारतीय दंड-संहिता के रक्षक हैं और दंड संहिता मुद्रण-स्वातंत्र्य की रक्षक है। वह यह भी कहते हैं कि मैं आज जो बात कह रहा हूं वही कहने का मेरा उद्देश्य लेख लिखते समय भी था। यह कहकर उन्होंने आपकी आँखों में धूल झोंकने का प्रयत्न किया है। अभियुक्त ने कल यह कहा था कि मैंने जो लेख लिखे हैं उन्हें अपने बचाव के लिए लिखने का उनको अधिकार है। मुझे लगता है कि इस बात पर वह मन-ही-मन हंस रहे होंगे कि हम सबको उन्होंने किस प्रकार बेवकूफ बना दिया। और मज़ा यह कि सब लोगों ने उनका कथन शांति से सुन लिया ! आखिर तिलक का बयान था क्या ? बस, अपने बचाव के बहाने सरकार

की निन्दा करके अशांति फैलाने का प्रयत्न था।"

इसके बाद न्यायाधीश दावर ने सारा मुकदमा जूरी को समझाने के लिए भाषण दिया।

रात के आठ बजे का समय था। जूरी ने करीब पौन घण्टा विमर्श करके अपना फैसला दिया। सात सदस्यों ने तिलक को दोषी घोषित किया, दो ने निर्दोष। ये दोनों व्यक्ति पारसी थे।

न्यायाधीश ने अपना फैसला देने से पहले तिलक से कहा कि यदि आप कुछ कहना चाहें तो कह सकते हैं। तिलक ने अपनी धीर-गंभीर वाणी में ये ऐतिहासिक शब्द कहे, "मुझे अब कुछ अधिक नहीं कहना है। जूरी ने भले ही मुझे दोषी करार दिया हो, मगर मैं अब भी दृढ़तापूर्वक कहता हूं कि मैं दोषी नहीं, निर्दोष हूं। इस दुनिया की तमाम चीजों पर इस न्यायासन की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ सत्ता की हुकूमत चलती है। और मुझे लगता है कि शायद ईश्वर की यही इच्छा होगी कि जो काम मैंने अपने सिर लिया है, उसकी प्रगति मेरे मुक्त रहने के बजाय जेल में जाकर दुःख सहने से अधिक होगी।"

तिलक के ये शब्द न्यायालय के बाहर भी गूंज उठे। इसके बाद न्यायाधीश ने अपना फैसला सुनाया। फैसले की भूमिका में सब से पहले तो उन्होंने इस बात पर दुःख प्रकट किया कि वह तिलक को सज़ा देने का निमित्त बनेंगे। फिर उन्होंने तिलक की विद्वता, बुद्धि और पांडित्य की प्रशंसा की। उन्होंने इस बात पर खेद प्रकट किया कि इस प्रतिभा का तिलक ने 'गलत' इस्तेमाल किया। इसके बाद मुकदमे से संबंधित तथ्यों की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा, "मेरे खयाल से जो लेख आपने लिखे हैं...उनसे स्पष्ट राजद्रोह झलक रहा है। उनमें शठता और जोर-जबरदस्ती का उपदेश किया गया है। यह ठीक है कि रैण्ड की हत्या के बारे में सम्मतिदर्शक भाषा काम में ली गई है। लेकिन साथ ही यह भी स्पष्ट है कि बम द्वारा हत्या जैसे कायरतापूर्ण कृत्य भी आपको पसन्द हैं। यही नहीं, आपने यह कहकर कि भारत के कल्याण के लिए ही बम का अवतार हुआ है, उसका अभिनन्दन किया है। अंग्रेज शासकों के प्रति द्वेष-भावना दस वर्ष के बाद भी आपके मन में कुछ कम नहीं हुई है। इसका विचार मैंने पहले

ही कर लिया है कि जूरी का निर्णय यदि आपको 'दोषी' ठहराये तो मुझे आपको क्या सज़ा देनी चाहिए। आपकी उम्र और दूसरी परिस्थितियों का खयाल करते हुए मुझे यह अत्यन्त जरूरी तथा इष्ट मालूम होता है कि जिस देश पर आप अपना प्रेम जताते हैं उसी देश के हित की खातिर आप यहां से बाहर रहें। इसलिए मैं आपको पहले दो अपराधों के लिए क्रमशः तीन-तीन वर्ष (एक-के-बाद-एक) की कालेपानी की सज़ा का, और तीसरे अपराध के लिए एक हजार रुपया जुर्माने की सज़ा का आदेश देता हूं।"

लोकमान्य की सज़ा की खबर तुरन्त सारे शहर में विद्युतगति से फैल गई। दूसरे दिन शहर में जबरदस्त तूफान उठ खड़ा हुआ। शहर के शेयर बाज़ार, मूलजी जेठा आदि बड़े बाजार, दुकानें, होटल, स्कूल वगैरा सब बन्द रहे। हिन्दुस्तान के मजदूर-आन्दोलन के इतिहास में पहली बार मजदूरों की हड़ताल हुई। लोकमान्य को ६ वर्ष की सज़ा हुई थी। इसलिए मजदूरों ने छह दिन की हड़ताल रखने का निश्चय किया। पुलिस ने बाजार, मिल आदि खुलवाने के जोरदार प्रयत्न किये, जिसके फलस्वरूप वहां खूब दंगा-फिसाद हुआ। गोलियां चलीं और ७५ आदमी मारे गए।

कलकत्ता, करांची, अहमदाबाद, नागपुर आदि अनेक बड़े-बड़े शहरों तथा गांवों में इसी प्रकार की हड़तालों, सभाओं और जुलूसों आदि के द्वारा लोकमान्य की सज़ा के खिलाफ रोष प्रकट किया गया। महाराष्ट्र में तो कुछ लोगों ने तिलक के जेल से छूट कर न आनेतक मिठाई न खाने या जूते न पहनने जैसे व्रत ले लिये। चारों ओर शोक का ऐसा वातावरण छा गया, मानो अपना कोई आत्मीय सदा के लिए चला गया हो।

लंदन में भी तिलक के प्रति सहानुभूति व्यक्त करने के लिए केक्स्टन हॉल में हिन्दुस्तानियों की एक सभा हुई।

: ३७ :

जेल-जीवन और उसके बाद

सज़ा सुनाने के बाद ही बिना किसी से मिलाये-जुलाये तुरन्त तिलक

को कोलाबा स्टेशन ले जाया गया। वहां ट्रेन तैयार खड़ी थी, उसमें बैठाकर उन्हें साबरमती रवाना किया गया। वहां की सेंट्रल जेल में खाने-पीने की दुर्व्यवस्था से दस दिन में उनका दस पौंड वजन घट गया। इसलिए वजन घटने के कारण की जांच करके उनके भोजन में दो पौंड दूध और दो औंस घी की वृद्धि कर दी गई। साथ ही एक समय गेहूं की रोटी और एक समय चावल देने की भी व्यवस्था की गई। १३ सितम्बर की रात को उन्हें एक युरोपियन इन्स्पेक्टर तथा आठ मुस्लिम सिपाहियों की टोली की निगरानी में पहले बंबई और बाद में 'हार्डिग' नामक सरकारी फौजी माल ढोनेवाले जहाज में बैठाकर रंगून की ओर रवाना किया गया। उनके साथ एक गुजराती ब्राह्मण रसोइया भी था। जहाज काफी बड़ा था, मगर फिर भी उन्हें उसके डेक के नीचे के कमरे में चौबीसों घंटे बन्द रखा जाता। सुबह-शाम एक-एक घंटा इन्स्पेक्टर के साथ उन्हें डेक पर घूमने के लिए निकाला जाता।

बंबई से चला जहाज नवें दिन रंगून पहुंचा। जहाज से उतरते ही उन्हें रेल में बिठाकर मांडले ले जाया गया और वहां की जेल में रखा गया। जेल में उन्हें जो कमरा दिया गया, वह २० फुट लम्बा और १२ फुट चौड़ा था। वह एक बैरक का अलग किया हुआ हिस्सा था, जिसके आस-पास इसी तरह एक अहाता भी अलग बना दिया गया था। दिन में अहाता और रात में कमरा ताला लगा कर बंद कर दिया जाता था।

तिलक का कहना है कि अगर उन्हें जेल में पुस्तकें न दी जातीं तो वह जेल के छह वर्ष कैसे काटते, यह कहना मुश्किल है। मौजूदा राजनीति की कोई पुस्तक या समाचार-पत्र उन्हें नहीं दिये जाते थे। प्रारम्भ में चार पुस्तकों से अधिक पुस्तकें वह अपने पास नहीं रख सकते थे। लेकिन ग्रंथ-लेखन के लिए ज्यादा पुस्तकों की मांग करने पर उन्हें उसकी मंजूरी मिल गई। इसलिए मांडले से बिदा होते समय उनके पास कोई चार-सौ पुस्तकें इकट्ठी हो गई थीं। जेल-निवास के दिनों में किये गए ग्रंथ-लेखन, स्वाध्याय एवं अपनी तबियत के बारे में तिलक लिखते हैं, "वर्षों से मेरी यह मान्यता थी कि भगवद्गीता पर आज जो भाष्य और

टीकाएं उपलब्ध हैं, उनमें से किसी में भी सही ढंग से गीता का रहस्य नहीं बताया गया है। अपनी इस मान्यता को मूर्त्तरूप देकर मैंने पाश्चात्य और पौर्वात्य तत्त्व-ज्ञान की तुलना करके गीता पर एक ग्रंथ लिखा।

"ग्रंथ लेखन के सिवा मैंने जेल में फ्रेंच, जर्मनी और पाली भाषाओं का ज्ञान भी जितना मुझसे होसका उतना प्राप्त किया। गणित, ज्योतिष-शास्त्र आदि के चिन्तन में भी मैंने थोड़ा-बहुत समय दिया है और तत्संबंधी कुछ नोट भी तैयार किये हैं।

"कह सकते हैं कि कुल मिलाकर वैसे मेरी तबीयत जेल में ठीक रही। वर्ष में एकाध बार बुखार जरूर हो आता था। लेकिन लम्बी बीमारी नहीं हुई। मधुमेह की व्याधि थोड़ी अवश्य बढ़ गई। बुढ़ापे के कारण पांच-छह दांत गिर गए। कान से कुछ कम सुनाई देता है और आँखों की ज्योति भी मंद होगई है।"

जेल में रहते हुए भी तिलक अपने ग्रंथ-संग्रह की बड़ी चिन्ता रखते थे। अपने लिए मांडले पुस्तकें मंगवाते हुए कौन-सी पुस्तक कौन-सी आलमारी में होगी, ऐसी छोटी-से-छोटी सूचना भी वह देते थे। उन्होंने 'लोकहितवादी' और प्रो० जिन्सीवाले से भी काफ़ी ग्रंथ मंगवाये थे। 'केसरी' तथा 'मराठा' के पुस्तक-संग्रह से तो वह पुस्तकें मंगवाते ही रहते थे। वह जेल से सदैव यह लिखते रहते थे कि घर और कार्यालय के पुस्तक-संग्रहों की बराबर हिफाज़त होती रहे।

एक बार संस्कृत व्याकरण 'कौमुदी' मंगाई होगी। उसके बारे में उन्होंने लिखा, "क्या 'कौमुदी' कहीं नहीं मिल रही है? वह कहीं गुम तो नहीं होगई? यह शंका होती है कि इसी तरह और पुस्तकें भी तो कहीं इधर-उधर नहीं हो रही हैं! हर कोई आदमी घर से अपनी पसंद की पुस्तक ले जाता मालूम होता है। श्री केलकर और भावे से कहना कि वे लायब्रेरी की पुस्तकें ठीक से संभाल कर रखें। जहांतक हो सके, बाहर के किसी आदमी को पुस्तकें न दी जायं।"

अपने स्वतः प्रयत्न से उन्होंने जर्मन भाषा सीखी। जर्मन भाषा में वेबर की पुस्तक पढ़कर उन्हें अपार आनन्द हुआ। वह लिखते हैं, "वेबर की पुस्तक पढ़ी। यह जर्मन भाषा में है। प्रति घंटा पांच पृष्ठ की

रफ्तार से मैं उसे धीरे-धीरे अर्थ करके पढ़ सका। इससे मुझे जो खुशी हुई, व्यक्त नहीं कर सकता। मुझे लगा कि मेरे कारावास के कुछ दिन बहुत ही अच्छे काम में बीते हैं।"

१९१२ के जून मास में तिलक की पत्नी का देहान्त हो गया। यह शोक-समाचार मिलने पर वह लिखते हैं :

"तार मिला। दिल को भारी आघात लगा। यह सच है कि संकट आते हैं तो मैं उन्हें शांति से सहन कर लेता हूं। मगर इस समाचार ने तो दरअसल मुझे भूकंप-जैसा झकझोर दिया। हम लोग हैं तो हिन्दू ही न! पति से पहले पत्नी गुजर गई, यह भला ही हुआ, हर कोई मानता है। किन्तु मुझे सबसे बड़ा दुःख तो इस बात का है कि उसके अंतिम समय में मैं उसके पास नहीं रह सका। मुझे सदा इसी बात का डर बना रहता था और आखिर हुआ भी यही। होनहार को कौन मिटा सकता है? मेरे जीवन का एक भाग समाप्त हुआ और मुझे अब महसूस होता है कि दूसरा भाग भी अब शीघ्र ही समाप्त होने जा रहा है।

"उसकी उत्तर-क्रिया सांगोपांग करना और उसकी इच्छानुसार उसकी अस्थियां प्रयाग या काशी ले जाकर गंगा में प्रवाहित करना। उसने अपनी जो-जो अन्तिम इच्छाएं व्यक्त की हों, वे सब अक्षरशः पूरी करना।

"ऐसे दुःख के अवसर पर मैं वहां नहीं हूं, इसलिए बालकों को बहुत दुःख अनुभव हो रहा होगा।...उन्हें मेरी ओर से यह संदेसा कहना कि इस विपदा के कारण पढ़ाई में किसी प्रकार का भी खलल न पड़ने दें। ऐसी विपत्तियों से ही मनुष्य को स्वावलंबन का पाठ सीखना चाहिए।"

यह पढ़ते हुए जहां ऐसा मालूम होता है कि लोकमान्य भी हमारे जैसे ही हाड़-मांस के ही आदमी थे, वहां हमें कवि भवभूति की 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' इस युक्ति का भी स्मरण हो आता है।

लोकमान्य छह वर्ष का कारावास भुगतकर वापस आये। इस अर्से में कांग्रेस की कई बैठकें हुईं; लेकिन किसीमें भी उनके बारे में कोई प्रस्ताव पास नहीं किया गया। इससे नरमदली नेताओं (कांग्रेस पर सूरत की फूट के कारण नरम दल का कब्जा था) के मानस का पता चलता है।

गरम दल (राष्ट्रीय दल) के नेताओं के प्रति सहानुभूति व्यक्त करना

सरकार को मंजूर नहीं था। इसलिए नरमदली नेताओं ने इस विषय में अपने मुंह से कभी एक अक्षर भी नहीं निकाला। लेकिन कांग्रेस का इतिहास यह भी बताता है कि किसी वाइसराय की पत्नी या पुत्र की मृत्यु पर समवेदना प्रकट करने और तत्संबंधी प्रस्ताव पास करने के लिए ये लोग कैसे तैयार-से खड़े रहते थे।

अपनी एक नोटबुक के पहले पृष्ठ पर लोकमान्य ने मांडले-जेल में भर्तृहरि का निम्नलिखित श्लोक लिख रखा था :

अम्भोजिनी वन निवासविलासमेव।
हंसस्य हन्ति नितरां कुपितो विधाता॥
न तस्य दुग्धजलभेदविधौ प्रसिद्धाम्।
वैदग्ध्य कीर्तिमपहर्तुमसौ समर्थः॥[1]

इसी संबंध में चर्चा होने पर उन्होंने कहा था, "सरकार मुझपर अधिक-से-अधिक शारीरिक प्रतिबंध लगा सकती है, मगर ईश्वर ने जो मुझे बुद्धि का प्रसाद दिया है उसे वह मुझसे कभी नहीं छीन सकती।"

कदम-कदम पर लोकमान्य की सरकार का विरोध करने की वृत्ति, शक्ति तथा दृढ़ता का हमें इस एक छोटी-सी बात से परिचय मिल जाता है।

सज़ा की अवधि पूरी होने में कोई डेढ़ महीना बाकी था। तभी मांडले से ८ जून १९१४ को उन्हें रंगून ले जाया गया। 'मेयो' नामक फौजी जहाज में मद्रास, और वहां से उन्हें ट्रेन में पूना के नजदीक हडपसर स्टेशन तक ले गए। १६ जून की रात के लगभग एक बजे वहां से मोटर में बैठाकर गायकवाड़ वाड़ा (तिलक के निवासस्थान) के पास चुपचाप उन्हें छोड़ दिया गया। पुलिस अधिकारी गायडर ने बतलाया कि सरकार ने उनकी बाकी की सज़ा बिना किसी शर्त के माफ कर दी है।

---

[1] यदि ब्रह्मा कुपित हो जायं तो हंस का कमलिनी के बीच रहकर आनन्दोपभोग करना नष्ट कर सकते हैं; लेकिन उसकी दूध और पानी को अलग करने की जो विशेषता और कीर्ति है, उसे नष्ट करने की शक्ति उनमें नहीं है।

रात के समय वाड़े पहरेदार ने उन्हें अन्दर नहीं जाने दिया। जब लोकमान्य ने अपने भानजे धोंडोपंत विद्वांस को बुलाया, तब जाकर वह अपने घर में जा सके। गृहिणी-विहीन घर में छह बरस बाद अचानक आधी रात को प्रवेश करते समय उनके तथा उनके परिवारवालों के मन की क्या दशा हुई होगी, यह पाठक कल्पना कर सकते हैं। उनकी मुक्ति का समाचार बात-की-बात में चारों ओर बिजली की तरह फैल गया। अभिनन्दन-पत्रों व तारों की झड़ी लग गई और उनके दर्शन के लिए गायकवाड़ वाड़े की ओर लोगों का तांता बंध गया।

२१ तारीख को पूना के नागरिकों ने एक सभा की और उनकी जेल-मुक्ति पर आनन्द प्रदर्शित किया। उस सभा में लोकमान्य ने भाषण देते हुए कहा, "मैं छह वर्ष के बाद वापस आया हूं। आस-पास देखता हूं तो रिप वान विंकल[1] की तरह सारी दुनिया मुझे नई मालूम होती है। छह वर्ष पहले मैं जिस तरह आपसे संबंधित था उसी प्रकार, और उसी नाते से आगे भी सदा रहूंगा। आप सबोंको यहां एकत्र हुए देखकर ऐसा विश्वास होता है कि आप भी पहले की तरह ही मुझे स्वीकार कर लेंगे।"

जेल से लौटने पर तिलक का जो स्वागत और जय-जयकार हुआ, वह भारत सरकार कैसे सहन कर सकती थी? उसे डर था कि तिलक के साथ विद्यार्थियों का फिर से सम्पर्क होने से उनमें राजद्रोह के बीज बोये जायंगे। इसलिए उसने २५ जून को एक घोषणा निकाली कि सरकारी नौकर या विद्यार्थी तिलक के साथ किसी प्रकार का संबंध एवं सम्पर्क न

---

[1] **अंग्रेजी की एक प्रसिद्ध कथा का नायक, जो एक दिन जंगल में किसी गुफा में जाकर सो गया था। कोई १०० बरस बाद उसकी नींद खुली। इस बीच आस-पास की दुनिया ही बदल गई थी, पर उसे उसका कुछ आभास न था। यह नाम ऐसे लोगों के लिए इस्तेमाल किया जाता है जो संसार में रहते हुए भी आस-पास की घटनाओं के बारे में कुछ नहीं जानते।**

रखें। सरकार इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हुई। उसने उनके मकान के पास ही एक पुलिस-चौकी भी स्थापित कर दी।

इसी अर्से में पूना में गणेश-उत्सव का समय आया। सरकार ने उसमें भी अपना दखल दिया। उसने यह आज्ञा निकाली कि उत्सव में गणपति देवता के सिवा और किसीकी जय-जयकार न की जाय और राजद्रोह के जुर्म में सजा पाये हुए लोगों की तस्वीरों का प्रदर्शन न किया जाय तथा ऐसे लोगों के रिश्तेदारों का भी किसी प्रकार का गौरव न किया जाय, आदि। सरकार ने यह सब किसको लक्ष्य करके किया था, यह स्पष्ट ही है।

तिलक को रिहा हुए डेढ़ महीना हो चुका था। लेकिन अबतक जेल में लिखी उनकी पुस्तक 'गीता-रहस्य' की पांडुलिपि सरकार से वापस नहीं मिली थी। इससे उनके मित्र चिन्तित हो गए। सरकार पांडुलिपि न दे तो? इस पर तिलक ने उनसे कहा, "आप लोग चिन्ता क्यों करते हैं? मेरा दिमाग तो ठिकाने है न? दो महीने सिंहगढ़ जाकर रह आऊंगा और सारा ग्रन्थ जैसे-का-तैसा लिख डालूंगा।"

ग्रन्थ की पांडुलिपि न देने का कारण यह था कि सरकार को अंदेशा था कि इसमें कहीं कोई रोजद्रोहात्मक प्रचार आदि न हो। इसलिए उसने उसे जांच करने के लिए वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर को दे दिया था। बाद में सरकार ने ग्रन्थ की पांडुलिपि तिलक को लौटा दी।

इसी बीच ४ अगस्त १९१४ को यूरोप में महायुद्ध छिड़ गया। सरकार और लोकमान्य तिलक के बीच एक प्रकार का समझौता-सा हो गया। उन्होंने सरकार को इस संकट के समय मदद देने की तत्परता दिखाई। सरकार ने तिलक का यह रवैया देखकर उनके प्रति अपना रुख नरम कर दिया। उनके मकान पर जो पुलिस का पहरा लगा रहता था, वह भी हटा दिया गया।

गणेश-उत्सव में पहली बार तिलक ने अपनी जेल में लिखी पुस्तक 'गीता-रहस्य' के विषय में कुछ प्रवचन किये। 'गीता-रहस्य' की पांडुलिपि मिल जाने से उसके प्रकाशन का काम भी उन्होंने तुरंत हाथ में ले लिया।

: ३८ :

समझौते का प्रयत्न

तिलक की रिहाई के साल (१६१४) कांग्रेस का अधिवेशन मद्रास में होनेवाला था। उसके संबंध में राष्ट्रीय पक्ष (गरम दल) की नीति क्या हो, उसकी चर्चाएं शुरू हुईं। श्रीमती एनी बेसेण्ट ने, जिन्होंने १६१३ से भारत की राजनीति में भाग लेना शुरू किया था, राष्ट्रीय पक्ष एवं कांग्रेस के बीच समझौता कराने की कोशिशें शुरू कीं। इधर नरम दल के नेता गोखले, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी आदि भी यह सोचने लगे थे कि महायुद्ध शुरू होने के कारण अब नरम तथा गरम, दोनों दल कांग्रेस में मिल जायं तो देश का अधिक कल्याण होगा। लोकमान्य के साथ समझौते की चर्चा करने के लिए कांग्रेस के मंत्री श्री सुब्बाराव श्रीमती एनी बेसेण्ट के साथ पूना आये। गोखले इस समय बीमार थे। पर ये लोग उन्हींकी सलाह से समझौते की बातचीत कर रहे थे। गोखले को यह आशा थी कि विगत छह वर्ष में देश की परिस्थिति में जो परिवर्तन हुए हैं, उन्हें अनुभव करके तिलक की पुरानी उग्रवृत्ति शायद कुछ नरम हो गई होगी।

परंतु इस बातचीत के दौरान में गोखले को अनुभव हुआ कि विपिन-चन्द्र पाल, केलकर आदि की भांति लोकमान्य की उग्र राजनैतिक वृत्ति भी बिल्कुल नरम नहीं हुई है। चर्चा के बाद सुब्बाराव एवं श्रीमती एनी बेसेण्ट मद्रास चले गए। उसके बाद गोखले स्वयं तिलक से मिले। दोनों में खुले दिल से बातचीत हुई। लोकमान्य ने उन्हें बताया, "मेरा विचार पहले देश को जाग्रत करना है। फिर मैं कांग्रेस में शामिल होकर उसके द्वारा अपनी नीति और कार्यक्रम चलाऊंगा।"

इस मुलाकात के बाद ही गोखले ने मद्रास-कांग्रेस के प्रस्तावित अध्यक्ष भूपेन्द्रनाथ बसु को लिखा कि तिलक का विचार कांग्रेस में शामिल होकर, स्वराज्य की मांग स्वीकृत न हो तबतक, विधान-सभाओं आदि का बहिष्कार करना है। गोखले के इस पत्र का परिणाम यह हुआ कि मद्रास-कांग्रेस में नरम तथा गरम दलों के बीच जो समझौता होनेवाला

था वह न हो सका । केवल कांग्रेस के विधान में कुछ आवश्यक सुधार सुझाने के लिए एक समिति नियुक्त कर दी गई ।

गोखले के इस पत्र से तिलक बहुत चिढ़ गए । उन्होंने 'केसरी' में 'उल्टा चोर कोतवाल को डांटे' शीर्षक एक बड़ा कड़ा लेख लिखा । इसमें उन्होंने गोखले की सख्त आलोचना की । गोखले को इससे बहुत आघात पहुंचा । वह बीमार तो थे ही, लेख प्रकाशित होने के बाद दस दिन के अंदर ही चल बसे । इस घटनाक्रम के साथ कुछ लोगों ने कार्य-कारण का संबंध जोड़कर तिलक को बदनाम करने की काफी कोशिश की, लेकिन ऐसा करते समय वह यह भूल गए कि अपने विचारों से मत-भेद रखनेवाले व्यक्तियों के प्रति भी तिलक बड़े उदार थे । न्याममूर्त्ति रानडे की मृत्यु के अवसर पर तिलक ने जो उद्‌गार प्रकट किये थे, उनसे स्पष्ट हो जाता है कि अपने किसी भी विरोधी के प्रति उनके हृदय में किसी प्रकार की दुर्भावनाएं नहीं थीं, बल्कि वह उन्हें स्नेह और आदर की दृष्टि से देखते थे । वास्तव में देखा जाय तो तिलक का यह लेख अधिक-से-अधिक असामयिक ही कहा जा सकता है । तिलक को गोखले की मृत्यु से बड़ा दुःख हुआ ।

गोखले के अवसान के बाद तिलक सिंहगढ़ से पूना वापस आगए । वह गोखले की श्मशान-यात्रा में शामिल हुए और उन्होंने गोखले की अन्त्येष्टि-क्रिया के अवसर पर उन्हें एक महान् राष्ट्र-सेवक कहकर अपनी श्रद्धांजलि दी । उन्होंने कहा, "यह समय तालियां बजाने का नहीं है । यह आँसू बहाने का समय है । गोखले की मृत्यु से हमारी कितनी बड़ी हानि हुई है, उसे व्यक्त करने के लिए हम यहां इकट्ठे हुए हैं । भारत-भूमि का यह हीरा, महाराष्ट्र का यह रत्न, देश के लिए काम करनेवाला हमारा श्रेष्ठ कार्यकर्त्ता, आज इस श्मशान-भूमि पर चिरन्तन शांति के लिए सो रहा है । उसका दर्शन करो और उसके जैसा कार्य करने के लिए कटिबद्ध हो जाओ । उनके बताये हुए मार्ग पर अगर हम चलेंगे तो परलोक में भी उन्हें आनन्द होगा ।"

गोखले की मृत्यु से संयुक्त कांग्रेस की बात कुछ समय के लिए रुक गई, किन्तु समझौता होने तक राह देखना राष्ट्रीय पक्ष के लिए मुश्किल

था। ८–१० मई को पूना में गरम दल का प्रांतीय सम्मेलन हुआ। उसमें युद्ध में सरकार को मदद करने तथा संयुक्त कांग्रेस के लिए कोशिश करने के सम्बन्ध में प्रस्ताव स्वीकार किये गए।

गोखले ने भूपेन्द्रनाथ बसु को लिखे हुए पत्र में कहा था कि अगर कांग्रेस के जरिये उनकी नीति और कार्यक्रम का अमल न हो सका तो लोकमान्य कांग्रेस से अलग 'नेशनल लीग' स्थापित करने की सोच रहे हैं। 'नेशनल लीग' की इस चर्चा में बाद में स्थापित होनेवाली 'होमरूल लीग' का आभास मिलता है। तिलक इस बात से बिल्कुल संतुष्ट नहीं थे कि कांग्रेस का अधिवेशन साल में बस तीन दिन होकर खत्म हो जाय और फिर कोई काम न हो। वह चाहते थे कि कांग्रेस का काम लगातार चलता रहना चाहिए। इसके लिए उन्होंने १८९२ में और १९०५ में, दो बार कोशिश की थी। इस समय यूरोप में युद्ध छिड़ जाने से एक खास अवसर पैदा हो गया था। यह अभी से निश्चित कर लेना जरूरी था कि युद्ध के बाद भारत से प्राप्त सहायता के बदले ब्रिटिश सरकार से क्या मिलना चाहिए। इन सभी बातों पर विचार करने और उन्हें क्रियात्मक स्वरूप देने के उद्देश्य से तिलक ने 'होमरूल लीग' (हिन्द स्वराज्य-संघ) स्थापित करने का निश्चय किया।

इसी बीच श्रीमती एनी बेसेण्ट ने भी एक 'होमरूल लीग' स्थापित करने के सम्बन्ध में २५ सितम्बर १९१५ के दिन अपने अखबार 'न्यू-इण्डिया' में एक घोषणा प्रकाशित की।

इधर मुस्लिम लीग ने भी १९१३ में कांग्रेस की नीति के साथ संगत हो सकने योग्य नीति घोषित की। गोखले के अनुगामी 'सर्वेण्टस् ऑफ इण्डिया सोसायटी' के अध्यक्ष श्री शास्त्री ने कोयंबतूर में भाषण देते हुए कहा कि हमारे ही कुछ भाई यह भ्रम फैला रहे हैं कि हिन्दुस्तानी लोग स्वराज्य के लायक नहीं हैं। उन्होंने ऐसे लोगों की आलोचना की। इन सब घटनाओं से यह अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा था कि स्वराज्य के लिए प्रयत्न करने का यही सबसे अच्छा अवसर था।

कांग्रेस की नीति में परिवर्तन करने का सवाल कांग्रेस के बंबई-अधिवेशन के सामने आनेवाला था, किन्तु इतने में ही ५ नवम्बर १९१५

के दिन सर फिरोजशाह मेहता का देहान्त हो गया। फिरोजशाह मेहता भारत के राजनैतिक गगन के सबसे जगमगाते सितारों में एक थे। उनका जन्म सन् १८४५ में हुआ था। उनकी बुद्धिमत्ता से प्रभावित होकर सर अलेक्जैण्डर ग्राण्ट ने उन्हें ऊंची शिक्षा के लिए इंगलैण्ड भेजा था। वहां से बैरिस्टर बनकर वह १८६८ में भारत वापस आये। बंबई के सार्वजनिक जीवन में उनका बड़ा महत्त्वपूर्ण हिस्सा था। वह 'बंबई के शेर' के नाम से प्रसिद्ध थे। सच ही वह शेर जैसे उग्र और डरावने थे भी। सर फिरोज को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए लोकमान्य ने कहा था, "इस परतंत्र देश में नौकरशाही की हुकूमत के नीचे विद्या के साथ स्वतंत्रता, निर्भयता और दृढ़-निश्चय आदि लोकनायकों के आवश्यक गुण विकसित नहीं होते। किन्तु सद्भाग्य से सर फिरोज़शाह में ये सब गुण काफी प्रमाण में विद्यमान थे। उनकी मृत्यु से देश का भारी नुकसान हुआ है। उनकी यह विशेषता थी कि अगर वह किसी सवाल का पूरी तौर से विचार करने के बाद उसकी हिमायत करने का एक बार निश्चय कर लेते थे, तो वह उसकी सिद्धि के लिए प्रयत्न करने में बिल्कुल भी नहीं हिचकिचाते थे।"

इस साल कांग्रेस का अधिवेशन सर सत्यप्रसन्नसिंह की अध्यक्षता में बंबई में हुआ। कांग्रेस के संविधान में आवश्यक परिवर्तन समय पर न हो सके, अतः राष्ट्रीय पक्ष के लोग उससे अलग ही रहे। किन्तु इस अधिवेशन में संविधान में आवश्यक सुधार कर दिया गया और राष्ट्रीय पक्ष के लिए कांग्रेस का दरवाजा अगर पूरा नहीं तो कुछ तो जरूर खुल गया।

: ३९ :
फिर कांग्रेस में

अप्रैल १९१६ में वाइसराय लार्ड हार्डिंग अपने पद से निवृत्त होकर इंगलैण्ड वापस जानेवाले थे। आतंकवादियों से खुद उन्हें भी तकलीफ उठानी पड़ी थी। दिल्ली में उन पर बम फेंका गया था, पर वह उससे बाल-बाल बच गए। अगस्त १९११ में उन्होंने ब्रिटिश सरकार को एक

स्मरण-पत्र भेजा था जिसमें उन्होंने यह कहा था कि मार्ले-मिण्टो सुधारों को विस्तृत तथा विकसित करके प्रांतों को प्रांतीय स्व-शासन (प्रॉविन्शियल ऑटोनॉमी) प्रदान करना चाहिए। २६ मार्च १६१६ को पूना के नागरिकों की एक सभा में उन्हें एक मानपत्र दिया गया। सभा में लोकमान्य ने लार्ड हार्डिंग के प्रति संकटों की परवाह किये बिना हिन्दुस्तानियों के लिए अपनी सहानुभूति व्यक्त करने और उनकी उन्नति के यत्नों के लिए कृतज्ञता प्रकट करने के लिए एक प्रस्ताव रखा। यह घटना तिलक के बारे में प्रचलित इस विचार को कि वह अंग्रेजों को केवल बुरा ही मानते हैं और बहिष्कार का ही समर्थन करते हैं, गलत सिद्ध करती है।

अप्रैल में बेलगांव में प्रांतीय परिषद् हुई। राष्ट्रीय पक्ष ने महात्मा गांधी (उस समय कर्मवीर गांधी) को भी इस परिषद् में आने का आग्रहपूर्वक निमंत्रण दिया। गांधीजी ने यह निमंत्रण स्वीकार कर लिया। परिषद् में कांग्रेस के संविधान में हुए सुधारों के दृष्टिगत उसमें शामिल होने के बारे में एक प्रस्ताव पेश किया गया। लोकमान्य ने श्री मुंजे से उसका अनुमोदन करने के लिए कहा। मुंजे को यह बात पसन्द न थी। इसलिए उन्होंने लोकमान्य से कहा, "आपकी बात मेरे दिमाग में नहीं आती। मुझसे यह न हो सकेगा। परंतु मैं आपको विश्वास दिलाना चाहता हूं कि मैं आपका विरोध नहीं करूंगा और न आपके विरोधी दल में शामिल होऊंगा। पर मैं इस प्रस्ताव का अनुमोदन नहीं करूंगा।"

प्रस्ताव पास हो गया। 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' ने इस पर टीका करते हुए लिखा, "समझौते के इस प्रस्ताव द्वारा श्री तिलक ने कांग्रेस को अपने कब्जे में ले लिया है।" मुंजे को तब असलियत मालूम हुई। उन्हींके शब्दों में, "तब मेरी आँखें खुलीं। मैं लोकमान्य के पास गया और अपने कान पकड़कर मैंने उनसे क्षमा मांगी।"

इस अधिवेशन के समय लोकमान्य तिलक और गांधीजी में काफी विचार-विमर्श हुआ। लोकमान्य ने अपने अनुयायियों से कहा, "यह पक्का मिशनरी हमारे मण्डल में तो शामिल होने योग्य तो नहीं है। लेकिन इसके हाथों देश का अकल्याण कभी नहीं होगा।"

इसी अवसर पर स्वराज्य-संघ (होमरूल लीग) की स्थापना की

गई। उसकी ओर से लोकमान्य ने एक भाषण दिया। बेलगांव से सतारा होते हुए लोकमान्य पूना लौट आये। थोड़े ही दिन के बाद श्रीमती एनी बेसेण्ट भी पूना पधारीं। उस समय सारा शहर 'होमरूल' के नारों से गूंज उठा।

इस वर्ष लोकमान्य की आयु के साठ वर्ष पूरे होकर ६१वां शुरू होता था। इसके उपलक्ष में उनके साथियों एवं मित्रों ने उनकी हीरक जयंती मनाने का और उन्हें एक लाख रुपये की थैली भेंट करने का निश्चय किया। केवल तीन सप्ताह में महाराष्ट्र जैसे गरीब इलाके से एक लाख रुपये इकट्ठे हो गए। हीरक-जयंती समारोह में उन्हें एक मान-पत्र भी दिया गया। मान-पत्र का उत्तर देते हुए लोकमान्य ने कहा, "आप जो थैली आज मुझे भेंट कर रहे हैं, उसे मैं एक ट्रस्ट समझकर स्वीकार करता हूं। इसमें अपनी ओर से कुछ और डालकर मैं इस निधि का सार्वजनिक कार्यों के लिए उपयोग करने का प्रबंध करूंगा। ...आज हमारी मातृभूमि हम सबको सेवा के लिए पुकार रही है।"

सरकार भी जैसे अपने ही तरीके से लोकमान्य की हीरक जयंती मना रही थी। ठीक उत्सव के दिन प्रातःकाल तिलक पर पूना के जिला मजिस्ट्रेट का नोटिस तामील किया गया, जिसमें कहा गया कि उनके "अहमदनगर तथा बेलगांव के भाषण राजद्रोह के तुल्य हैं, अतः वह जिला मजिस्ट्रेट के सामने आकर इसका कारण बतायें कि उनसे बीस हजार रुपये का एक मुचलका और दस-दस हजार रुपये की दो जमानतें क्यों न तलब की जायं?"

लोकमान्य तिलक पर राजद्रोह का यह तीसरा अभियोग था। मुकदमा १२ अगस्त तक चला। मजिस्ट्रेट ने अभियोग तो कायम रखा, सिर्फ जमानत की रकम कम कर दी। इस फैसले के विरोध में हाईकोर्ट में अपील की गई। बैरिस्टर मोहम्मदअली जिन्ना लोकमान्य की पैरवी कर रहे थे। न्यायमूर्त्ति बैचलर तथा शाह ने लोकमान्य को निर्दोष घोषित किया।

वैधानिक और राजनैतिक इतिहास की दृष्टि से यह फैसला बड़े महत्त्व का है। इससे लोकमान्य केवल निर्दोष ही सिद्ध नहीं हुए, प्रत्युत

होमरूल—स्व-शासन—का आंदोलन भी विधि-संगत सिद्ध हो गया। आंदोलन को कानूनी मान्यता प्राप्त होने से उसके हजारों की संख्या में लोग सदस्य बनने लगे और आन्दोलन खूब जोर पकड़ने लगा।

अक्तूबर में बंबई प्रांतीय परिषद् का अधिवेशन जिन्ना की अध्यक्षता में अहमदाबाद में हुआ। वहां के बुजुर्ग नरम कार्यकर्त्ताओं ने युवकों को परिषद् के कामकाज में खूब स्वतंत्रता दी थी। इससे गरम दल के कई लोगों को निमंत्रण भेजे गए। उनमें लोकमान्य तिलक भी थे। लोकमान्य के स्वागत की तैयारियां होने लगीं। गांधीजी ने अपने हस्ताक्षरों से एक वक्तव्य निकालकर नागरिकों से तिलक के स्वागत के लिए स्टेशन पहुंचने की प्रार्थना की। लोकमान्य का अहमदाबाद में शानदार स्वागत हुआ।

नवम्बर में लोकमान्य अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के सदस्य चुने गए। इससे उन्हें कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में शामिल होने का अवसर मिल गया। इसलिए महाराष्ट्र और बंबई के अपने साथियों और अनुयायियों के साथ वह लखनऊ जा पहुंचे, और पूरे नौ वर्ष के बाद फिर से कांग्रेस के मंच पर जाकर बैठे।

लोकमान्य जब भाषण देने के लिए खड़े हुए तब ढाई हजार प्रतिनिधियों और साढ़े सात हजार प्रेक्षकों ने तालियां बजाकर उनका अभिनन्दन किया। लोकमान्य ने भाषण देते हुए कहा, "मैं जानता हूं कि ये तालियां उन सिद्धान्तों के लिए हैं जिनके लिए मैं आज दिन तक लड़ता आया हूं। हमने हुगली के किनारे (कलकत्ता में) स्वराज्य की जो घोषणा की थी, आज उस बात को दस वर्ष हो रहे हैं। बाद में हममें आपस में कुछ मतभेद हो गए और यह झगड़ा काफी समय तक चलता रहा। आज मुझे इस बात पर बहुत आनन्द हो रहा है कि स्वराज्य की योजना का काम आगे बढ़ाने के लिए हम सब एक मंच पर इकट्ठे हुए हैं।"

पाठकों को याद होगा कि १८९३-९४ में बंबई इलाके में कई जगहों पर हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए थे। उस समय उनके बारे में तिलक के लेखों से कई लोगों ने यह समझ लिया था कि तिलक मुसलमान-विरोधी मनोवृत्ति के हैं। उन लोगों के कथनानुसार तिलक ने अपने दोनों नये उत्सव (गणेश-उत्सव तथा शिवाजी-उत्सव) मुसलमानों को चिढ़ाने के लिए ही

शुरू किये थे। हमने उस समय भी यह बतलाया था कि यह धारणा गलत है। स्वयं तिलक ने लखनऊ में इस भ्रम को बिल्कुल दूर कर दिया। उन्होंने मुसलमानों को कौंसिलों में उनकी संख्या के अनुपात से कुछ अधिक स्थान देना स्वीकार किया। इस बारे में उन्होंने कहा था, "कुछ लोग यह शिकायत करते हैं कि हिन्दुओं को मुसलमानों के सामने हर बात में झुकना पड़ता है। किन्तु मैं कहता हूं और यह कहते समय मैं भारत के तमाम हिन्दुओं की भावना व्यक्त करता हूं, कि अगर अकेले मुसलमानों को ही स्वराज्य के अधिकार दिये गए, तो हम उसे भी बुरा नहीं मानेंगे। यदि केवल राजपूतों को अथवा किसी पिछड़ी हुई जाति को ज्यादा योग्य समझकर उसे सब अधिकार दे दिये जायं, तो भी मैं कुछ नहीं कहूंगा, क्योंकि तब झगड़ा उन लोगों और बाकी के समाज के बीच ही रहेगा। आज का तिकोना-विरोध (हिन्दू-मुस्लिम-अंग्रेज-विरोध) तो खत्म हो जायगा।"

लखनऊ-अधिवेशन में स्वराज्य का प्रस्ताव स्वीकार किया गया। इस अधिवेशन ने देश में साम्प्रदायिक एकता को भी पुष्ट किया। अधिवेशन में स्वीकृत स्वराज्य-प्रस्ताव तथा प्रस्थापित साम्प्रदायिक एकता से लार्ड सिडनहम बहुत डर गए। उन्होंने अपने स्मरण-पत्र में लिखा, "हिन्दुस्तान में बड़ी खतरनाक परिस्थिति उत्पन्न हो गई है। हमें...बहुत ही सावधानी से काम करना चाहिए।"

: ४० :

'होमरूल' की आवाज़

लखनऊ जाते समय तिलक कानपुर नहीं रुक सके थे। इसलिए कांग्रेस का अधिवेशन पूरा होने के बाद वह कानपुर गए। वहां उन्हें संस्कृत में मान-पत्र दिया गया। मान-पत्र का जवाब देते हुए लोकमान्य ने कहा, "अंग्रेजों की हुकूमत के कारण हमारा गुण-कर्म-विशिष्ट चातुर्वर्ण्य नष्ट हो गया है। क्षत्रियों के लिए कुछ काम ही नहीं रहा है। वैश्य-कर्म भी हमारे राजकर्त्ताओं ने छीन लिया है। मतलब, गुण-कर्म का ही पूर्णतः

लोप हो गया है।...हम अगर और कुछ न कर सकें तो कम-से-कम स्वराज्य प्राप्ति के लिए प्रार्थना तो जरूर करें।"

कानपुर से तिलक अपने मित्र मोतीलाल घोष से मिलने के लिए कलकत्ता गए। वहां से वापस आते समय रास्ते में नागपुर तथा मध्यप्रांत के अन्य कई नगरों में जाकर उन्होंने स्वराज्य का संदेशा लोगों को सुनाया। रेलवे-प्लेटफार्म पर दिये गए एक भाषण में उन्होंने कहा, "बंबई का टिकिट लेने से जैसे बीच के सब स्टेशनों के टिकिट उसमें ही आ जाते हैं, उसी तरह यदि हम स्वराज्य का टिकिट लें तो और सब मांगें उसमें अपने-आप आ जाती हैं।"

प्रथम महायुद्ध से उत्पन्न परिस्थितियों के कारण सरकार ने सभी हिन्दुस्तानियों को फौज में भरती की छूट दे दी (पहले भरती जातीय आधार पर होती थी—ब्राह्मण तथा वैश्य जैसी 'गैर-लड़ाकू' जातियों को फौज में नहीं लिया जाता था), तथा देश की रक्षा के लिए एक स्वयं-सेवक सेना बनाने की भी छूट दे दी थी। सरकार के इस फैसले का स्वागत करने तथा उसके लिए सरकार को धन्यवाद देने के लिए १७ फरवरी को पूना के नागरिकों की एक सभा हुई। तिलक ने उसमें मुख्य प्रस्ताव पेश किया। उसमें उन्होंने लोगों से देश की रक्षा के लिए ऐसी सेना में शामिल होने की अपील की। उन्होंने कहा, "अगर हमें स्वराज्य चाहिए तो हमें अपने देश की रक्षा भी करनी चाहिए। यह बहुत जरूरी है कि पढ़े-लिखे लोग फौज में भरती हों। इसीमें राजभक्ति है, देश-भक्ति है, साम्राज्यनिष्ठा है और राजनीति भी इसीमें है।"

इधर तिलक लोगों से फौज में भरती होने के लिए अपील कर रहे थे, उधर नौकरशाही ने उनकी इस अपील का अपने तरीके से जवाब दिया। सरकार को यह डर लगा कि कहीं तिलक पंजाब न चले जायं। तिलक ने ऐसा कोई कार्यक्रम नहीं बनाया था और न उन्होंने वहां जाने का इरादा ही प्रकट किया था। लेकिन फिर भी सरकार ने एक घोषणा द्वारा उनका पंजाब-प्रवेश निषिद्ध कर दिया। घोषणा में उसने कहा कि तिलक का पंजाब आना सार्वजनिक हित के विरुद्ध है। यदि वह पंजाब आयंगे तो उन्हें तीन वर्ष की कैद तथा जुर्माने की सजा दी जा सकती है। थोड़े

दिन के बाद जब तिलक का दिल्ली आना हुआ तो उन्हें इसी आधार पर वहां नहीं टिकने दिया गया।

२ मार्च को बंबई में एक आम सभा हुई, जिसमें आठसौ आदमियों ने फौज में भरती होने के लिए अपने नाम लिखवाये। उनमें से कई डिगरी-धारी भी थे। किन्तु सरकार नहीं चाहती थी कि शिक्षित लोग फौज में भरती हों। उसे तो शरीर के मज़बूत और दिमाग के कमजोर लोगों की जरूरत थी, जो बिना सोच-विचार किये आज्ञा-पालन कर तोपों की खुराक बन सकें।

सरकार ने यह घोषित किया कि 'इण्डियन डिफेन्स फोर्स' (भारत-रक्षा-बल) की योजना असफल रही है। कारण यह दिया गया कि उसमें लोग भरती नहीं हुए। भरती न होने का दोष नेताओं के सिर मढ़ा गया। यह बात सरासर झूठ थी, क्योंकि लगभग सभी नेता लोगों से फौज में भरती होने के लिए कह रहे थे। सच यह है कि सरकार ने 'भारत रक्षा कानून' का इस्तेमाल ही इस तरह से किया कि उससे भारत-रक्षा-बल योजना खतम हो जाय।

४ अप्रैल को तिलक कांग्रेस समिति की बैठक में भाग लेने के लिए कलकत्ता गए। इस बैठक में गांधीजी भी मौजूद थे। समिति की बैठक समाप्त होने के बाद तिलक बेलगांव जिला-परिषद् में भाग लेने के लिए चिकोड़ी गए। इस अवसर पर विशेष रूप से संयोजित 'मराठा-शिक्षा-परिषद्' में भाषण देते हुए उन्होंने कहा, "मैंने अपने जीवन का आरंभ शिक्षा के काम से ही किया था।...सरकार का कर्त्तव्य है कि वह देश में शिक्षा का सार्वत्रिक प्रचार करे। लेकिन सरकार को तो यह डर लगता है कि शिक्षा पाने पर लोग स्वराज्य मांगने लगेंगे ! इसीलिए वह शिक्षा का प्रचार नहीं करती। किन्तु हम तो खुले आम यह कहते हैं कि हमें तो स्वराज्य मांगना ही सीखना है और शिक्षा भी इसीलिए चाहिए। अगर कल मुझे स्वराज्य मिल जाय तो मैं सर्वप्रथम शिक्षा को मुफ्त और अनिवार्य बना दूं।...सरकार एक तरफ तो हमें शिक्षा नहीं देती और दूसरी तरफ दलील यह देती है कि हम शिक्षित नहीं हैं, फिर हमें स्वराज्य कैसे दिया जाय ?"

चिकोड़ी से तिलक निपाणी गए। वहां भाषण देते हुए उन्होंने डरपोक लोगों की तीव्र भर्त्सना की। उन्होंने कहा, "पेशवाओं के सैन्य में शामिल होने के लिए हम लोग अपने घोड़े एवं संबल लिये निकल पड़ते थे, किन्तु आज फौजी अफसरों को देखकर भी हमें यह डर लगता है कि कहीं वे पकड़कर हमें फौज में भरती न करदें।...हम अपनी परतंत्रता के कारण ही इतने डरपोक बन गए हैं।"

१७-१८ मई को नासिक में प्रांतीय परिषद् का अधिवेशन श्री श्रीनिवास शास्त्री की अध्यक्षता में हुआ। उनका स्वराज्य-विषयक भाषण काफी जोरदार रहा। स्वराज्य-संघ (होमरूल लीग) का प्रथम वार्षिक सम्मेलन भी वहीं हुआ। संघ के १४,२१८ सदस्य बन चुके थे। तिलक और एनी बेसेण्ट दोनों एक-दूसरे के संघ के सदस्य बने। दोनों संघों के बीच अच्छा सहयोग-समन्वय था। पंडित जवाहरलाल नेहरू जैसे लोग भी दोनों संघों के सदस्य बन गए।

इसी अर्से में उटकमंड (मद्रास की ग्रीष्मकालीन राजधानी) में मद्रास की विधान-सभा में भाषण देते हुए गवर्नर लॉर्ड पेंटलेण्ड ने स्वराज्य का आन्दोलन चलानेवाले लोगों की आलोचना की। उन्होंने यह आशा प्रकट की कि लोग इस आन्दोलन को समाप्त करने के लिए उठाये गए सरकारी कदमों में सहायता देंगे। लेकिन इस भाषण का लोगों पर उल्टा ही असर हुआ। वे खुल्लम-खुल्ला कहने लगे कि हम स्वराज्यवादी हैं और हम स्वराज्य चाहते हैं। मद्रास सरकार ने आन्दोलन रोकने के लिए श्रीमती एनी बेसेण्ट को उनके दो साथियों के साथ नजरबंद कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि सारे देश में स्वराज्य-संघ के प्रतिज्ञा-पत्र पर लोग हस्ताक्षर करने लगे। नरल दल के भी कई लोग स्वराज्य-संघ के सदस्य बन गए।

जिस समय स्वराज्य का आन्दोलन इस तरह जोरों से चल रहा था, उसी समय गांधीजी द्वारा चलाया गया चंपारन का सत्याग्रह सफल हुआ था। उस पर टीका लिखते हुए 'केसरी' ने कहा, "कांग्रेस के बारे में पहले जो बात थी, वही अब उसके साधनों पर भी लागू होनेवाली है।"

जुलाई में बंबई में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक हुई, जिसमें श्रीमती एनी बेसेण्ट तथा अली-बन्धुओं की नज़रबंदी का विरोध

किया गया। प्रस्ताव में कहा गया कि दोनों स्वराज्य-संघों की कार्रवाई कांग्रेस की नीति के साथ पूर्णतः संगत है।

कई लोग श्रीमती एनी बेसेण्ट तथा अली-बंधुओं की रिहाई के लिए अर्जियां और प्रार्थना-पत्र दे रहे थे। इन लोगों का विरोध करते हुए तिलक ने निष्क्रय प्रतिरोध (पैसिव रेज़िसटेन्स) की हिमायत की और कहा, "श्रीमती एनी बेसेण्ट के प्रति यदि हमें अपनी गहरी भावनाएं व्यक्त करनी हों तो उसका सबसे अच्छा तरीका यह है कि उन्हें कांग्रेस के आगामी अधिवेशन की अध्यक्ष बनाया जाय।" तिलक का यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया।

इसी समय यह पता लगा कि इंगलैण्ड मि० मांटेग्यू भारत-सचिव के पद पर आसीन हुए हैं। २० अगस्त को मांटेग्यू ने राजनैतिक सुधारों के बारे में एक घोषणा की। घोषणा में उन्होंने यह भी कहा कि इन सुधारों के बारे में जांच तथा चर्चा करने के लिए वह खुद भारत आयंगे। सभी-लोगों का ध्यान मांटेग्यू के आगमन की ओर केन्द्रित हो गया।

१७ सितम्बर को श्रीमती एनी बेसेण्ट और उनके साथियों को मुक्त कर दिया गया। नवम्बर में गोधरा में गांधीजी की अध्यक्षता में पहला गुजरात राजनैतिक सम्मेलन हुआ। सम्मेलन में पहुंचने में लोकमान्य को पौन घंटे की देर होगई। इस विलंब के लिए सभा से मांफी मांगते हुए गांधीजी ने कहा, "इस विलंब के लिए मैं जवाबदार नहीं हूं। हम होमरूल मांग रहे हैं और अगर उसके लिए पौन घंटे की देर भी होजाय तो इसमें कोई हर्ज नहीं!"

सम्मेलन की कार्य-समिति का पहला प्रस्ताव राजनिष्ठा का था। गांधीजी ने उस प्रस्ताव को फाड़ दिया और कहा, "बात-बात में इस प्रकार अपनी राजनिष्ठा व्यक्त करना बिल्कुल फिजूल है। जबतक हम बलवा नहीं करते तबतक हम राजनिष्ठ ही हैं।"

परिषद् में लोकमान्य ने मराठी में भाषण दिया। उन्होंने बताया कि अंग्रेजों के शासन के कारण हम कितने कंगाल बन गए हैं। युद्ध-सहायता के बारे में उन्होंने कहा कि हिन्दुस्तान के दिल में विश्वास पैदा किये बिना उससे आवश्यक सहायता मिलना मुश्किल होगी।

कुछ काल के बाद मांटेग्यू भारत पहुंच गए। उन्होंने विभिन्न राजनैतिक दलों के प्रतिनिधियों से बात-चीत शुरू की। लोकमान्य ने अपना 'होमरूल' का प्रचार बिल्कुल शिथिल न होने दिया। २६ नवंबर को होमरूल के प्रतिनिधि-मंडल के साथ वह लॉर्ड चेम्सफोर्ड तथा मांटेग्यू से मिलने गए। दूसरे दिन मांटेग्यू के साथ उनकी काफी देरतक बातचीत हुई। बातचीत के बारे में मांटेग्यू ने अपनी डायरी में लिखा है—"मैंने तिलक से सवाल पूछा कि अगर आपको संकलिपत सुधार संतोष देनेवाले न लगें तो आप क्या करेंगे ? बिना किसी हिचक के तिलक ने जवाब दिया, जो कुछ मिलेगा उसे ले लूंगा और बाकी के लिए आन्दोलन शुरू कर दूंगा।"

मांटेग्यू आगे लिखते हैं, "आज हिन्दुस्तान में सबसे ज़्यादा प्रभावशाली आदमी अगर कोई है, तो वह तिलक ही है। अगर वह चाहें तो उनसे युद्ध-प्रयत्न में हमें काफी मदद मिल सकती है।"

इस साल कांग्रेस का ३२वां अधिवेशन कलकत्ते में श्रीमती एनी बेंसेण्ट की अध्यक्षता में बड़ी धूम-धाम से हुआ। अधिवेशन में कांग्रेस की ओर से एक प्रतिनिधि मंडल इंग्लैण्ड भेजने का निश्चय किया गया। मांटेग्यू की घोषणा के बारे में यह प्रस्ताव पास किया गया कि दिल्ली में यथा-शीघ्र उत्तरदायी शासन स्थापित करने के लिए पार्लमिण्ट में कानून बनाया जाय और उसकी पहलकदमी के लिए कांग्रेस-लीग की योजना के अनुसार शासन में तात्कालिक सुधार किया जाय। इस प्रस्ताव पर भाषण देते हुए लोकमान्य ने कहा, "स्वराज्य देने का कार्य एक ही कानून द्वारा पूरा होना चाहिए। यह बात कि यह घर हमारा है और उसका कब्ज़ा हम चाहे जब ले सकते हैं, स्वीकार की ही जानी चाहिए।...और ऐसा होगा तभी काल और अवधि के बारे में समझौते के लिए गुंजाइश रहेगी, अन्यथा किसी प्रकार का समाधान होना असंभव है।"

कलकत्ता से पूना वापस आने के बाद तिलक जनवरी के आखिर में लोनावला में पूना जिला परिषद् में शामिल हुए। उसके बाद वह पहले से ही निश्चित वराड़ और नागपुर दौरे पर निकल गए। दौरा ४ फरवरी से २४ फरवरी तक चला। तीन सप्ताह के इस समय में उन्होंने एक हजार मील रेल से और उतने ही मील मोटर से तय किये। लगभग तीस शहर

और क़सबे उनके दौरे में आगए। कुल मिलाकर उन्होंने सौ भाषण दिये। स्वराज्य-फंड के चंदे में पौने दो लाख रुपये एकत्रित हुए। दौरा कितना सफल था, उसकी कल्पना इसीसे की जा सकती है कि उनके आस-पास इतनी भीड़ इकट्ठी हो जाती थी कि उसमें से रास्ता निकालना मुश्किल हो जाता था। कभी-कभी तो दर्शनार्थी उनकी मोटर का स्पर्श करके ही संतोष मान लेते थे। हजारों ग्रामीण लोग भी उनका दर्शन करने और भाषण सुनने के लिए इकट्ठे हो जाते थे।

दौरे की शुरूआत बंबई से हुई। ४ फरवरी को कोयले के व्यापारियों ने उन्हें ७,७११ रुपये की थैली भेंट की। गांधीजी भी वहां मौजूद थे। बंबई से तिलक खंडवा, बरहानपुर, मलकापुर होते हुए नागपुर गए। खंडवा में उन्होंने अपनी टूटी-फूटी हिन्दी में भाषण दिया, जिसे सुनकर गांधीजी बहुत ही खुश हुए और उन्होंने उनके हिन्दी-प्रेम और भाषा की प्रशंसा की। लोगों में प्रेम और उत्साह इतना था कि दौरे में एक जगह एक चमार ने भी अपनी जेब से दो रुपये निकाल कर दिये, तो एक जगह नदी के पाट में रेत की बोरियां और उन पर टीन की चादरें डालकर उनकी मोटर के लिए रास्ता बनाया गया। एक लिंगायत सज्जन ने देवता के प्रसाद के रूप में अपने गले का चांदी का लिंग चंदे में दे दिया। एक जगह तो ऐसा हुआ कि लोकमान्य के आगमन की बात सुनकर थियेटर में नाटक देखते लोग भी उठकर उनके दर्शन के लिए भाग आये। एक ने तो अपनी ५०० रुपये की बीमा-पालिसी ही होमरूल लीग के चंदे में दे दी।

वराड-नागपुर के इस दौरे में लोकमान्य ने लोगों को, खासकर देहाती लोगों और किसानों को स्वराज्य का संदेश सुनाकर उनमें अपूर्व जागृति पैदा की। तिलक इस बातको भलीप्रकार जानते थे कि किन-किन लोगों के सामने किस-किस तरह से भाषण देना चाहिए। भाषा के बारे में वह बड़े सावधान रहते थे। वह ढूंढ़-ढूंढ़कर ऐसे शब्दों का प्रयोग करते थे, जिन्हें सभी लोग समझ सकें। इसी तरह 'ब्यूरोक्रेसी' के लिए एक बहुत ही उचित शब्द 'नौकरशाही' उन्हें मिल गया। 'स्वराज्य मेरा जन्म-सिद्ध अधिकार है और मैं उसे लेकर रहूंगा''—स्वराज्य का यह मूल-मंत्र भी उन्हें ऐसे ही एक दौरे में सूझा था।

नौकरशाही और स्वराज्य का वह जिस भाषा में प्रतिपादन करते थे, वह बिल्कुल सादी एवं हृदयस्पर्शी होती थी। वह कहते थे, "कुछ नौकर ऊंचे दर्जे के हैं और कुछ नीचे दर्जे के। इन सबको हम जरूर रखेंगे, लेकिन उनकी चोटी हमारे हाथ में होनी चाहिए। जिसे हम स्वराज्य कहते हैं, वह यही है। विधान-सभाओं में हम अपने आदमी भेजेंगे और उनके द्वारा निर्धारित नीति के अनुसार ये नौकर काम करेंगे। हमारी इस मांग में क्या पाप है ? क्या इसमें राजद्रोह है ? लोग बलवा करेंगे, इस भय से उन्हें हमेशा दबाये रखनेवाली नौकरशाही हमें नहीं चाहिए। 'नौकर' चाहिए, पर उनकी 'शाही' (निरंकुश सत्ता) नहीं चाहिए।"

इन दौरों में वह फौज में भरती होने के लिए भी कहा करते थे। वह कहते थे, "अनुकूल परिस्थिति होने पर भी जो आदमी भारत-रक्षा-बल में जाने के लिए तैयार नहीं होता, उसे मैं स्वराज्य का भक्त नहीं समझता। अगर आप फौज में भरती नहीं होंगे तो स्वराज्य के इस आन्दोलन को बेकार मानकर मैं छोड़ दूंगा।" पर सरकार को तिलक द्वारा किया भरती का यह प्रचार भी स्वीकार्य न था।

: ४१ :

सरकार की कोपदृष्टि

मांटेग्यू के सामने 'होमरूल' के बारे में स्मरण-पत्र पेश करने के बाद तिलक ने उसके बारे में अधिक काम करने के लिए इंगलैण्ड जाने की सोची। इधर शिरोल-मामले के बारे में, जिसकी चर्चा आगे की जायगी, जांच करने के लिए हिन्दुस्तान आये आयोग का काम भी खतम हो चुका था। इसलिए २३ मार्च १९१८ को प्रतिनिधि-मंडल के अन्य सदस्यों के साथ लोकमान्य पूना से चल पड़े। दूसरे दिन बंबई में उन्होंने सयाजीराव गायकवाड़ की अध्यक्षता में बुलाई गई अस्पृश्यता-निवारण परिषद् में भाग लिया। उन्होंने उसमें एक प्रस्ताव भी पेश किया। प्रस्ताव पर बोलते हुए उन्होंने कहा, "अस्पृश्यता वैदिक धर्म से संगत नहीं है। यह एक रूढ़ि है। मैं इससे इन्कार नहीं करता कि यह प्रथा प्राचीन कालीन ब्राह्मणों

के अत्याचारों तथा तानाशाही से ही पैदा और मजबूत हुई है। अब हमें उसे उखाड़ फेंकना चाहिए।...राष्ट्र के कल्याण के लिए मैं अस्पृश्यों के साथ सब प्रकार का व्यवहार करने के लिए तैयार हूं। अस्पृश्यता को हमारे समाज में कायम रखना परमेश्वर के सामने पाप करने जैसा है। अस्पृश्यता यदि एक बार ईश्वर को भी मान्य हो तो मैं उसे ईश्वर नहीं मानूंगा।"

बंबई में तिलक के सम्मान में कई सभा-समारोह हुए। मारवाड़ी विद्यालय में मारवाड़ी समाज की एक सभा हुई, जिसमें लोकमान्य को पंद्रह हजार की थैली भेंट की गई। स्व० जमनालाल बजाज ने स्वयंसेवक बनकर सभा की व्यवस्था की थी। दूसरे दिन मिल-मजदूरों द्वारा तिलक के सम्मान में पान-सुपारी का समारंभ हुआ। शराबबंदी के आन्दोलन के कारण मज़दूर लोकमान्य से बहुत खुश थे। पाठकों को याद होगा कि जब तिलक को ६ वर्ष की सज़ा हुई थी तब मज़दूरों ने उसके विरोध में ६ दिन की हड़ताल की थी। इस अवसर पर सोलह हज़ार मजदूरों ने एक-एक आना इकट्ठा करके एक हज़ार रुपये लोकमान्य को दिये।

२६ तारीख को स्वराज्य-संघ का सम्मेलन हुआ। उसमें संघ के कार्य का सिंहावलोकन किया गया। संघ के कार्य में खर्च हुई रकम के अतिरिक्त कोई पौने दो लाख रुपये चन्दे से जमा हुए थे।

अगले दिन प्रतिनिधि मंडल बंबई से दक्षिण की ओर रवाना हुआ और रामेश्वरम् होता हुआ कोलंबो पहुंचा। इरादा पांच तारीख को इंगलैण्ड जानेवाले एक जापानी जहाज़ में बैठकर इंगलैण्ड जाने का था। जहाज़ के आने में अभी कई दिन थे, लेकिन इसी बीच सरकार ने इन सबके पासपोर्ट रद्द कर दिये। पत्र-व्यवहार का कुछ नतीजा नहीं निकला। सरकार की तरफ से कहा गया कि वर्त्तमान स्थिति में, जबकि महायुद्ध पूरे जोरों से चल रहा है, होमरूल की चर्चा के लिए इंगलैण्ड जाना सरकार उचित नहीं समझती। इसलिए पासपोर्ट रद्द कर दिये गए हैं। इस प्रसंग में यह बताया जा सकता है कि सरकार भारत के बारे में ही ऐसी चर्चा इस समय अनुपयुक्त समझती थी, अन्य देशों के साथ नहीं, क्योंकि इसी समय, महायुद्ध के बावजूद, ब्रिटिश सरकार आयरलैण्ड के नेताओं के साथ होमरूल के प्रश्न पर बातचीत कर रही थी।

एक दूसरी विज्ञप्ति द्वारा सरकार ने २७ अप्रैल को दिल्ली में होने-वाली युद्ध-परिषद् की घोषणा की, लेकिन उसमें तिलक, श्रीमती एनी बेसेण्ट आदि गरमदली नेताओं को नहीं बुलाया गया था। सर क्लॉड हिल द्वारा संयोजित प्राथमिक परिषद् में गांधीजी ने इस बारे में शिकायत की, किन्तु हिल के यह पूछने पर कि तिलक तथा श्रीमती एनी बेसेण्ट की गैरहाज़िरी के बारे में किसी को शिकायत तो नहीं है, सिर्फ गांधीजी ने अपनी शिकायत पेश की। किसीने उनका अनुमोदन नहीं किया। इससे गांधीजी को बहुत खेद हुआ। घर जाने के बाद उन्होंने हिल को एक पत्र लिखा। पत्र में उन्होंने कहा, "श्री तिलक, श्रीमती एनी बेसेण्ट तथा अली-बंधुओं की गैरहाजिरी के कारण परिषद् सही तौर पर प्रतिनिधि नहीं कही जा सकती।...जनता के विश्वासपात्र नेताओं पर जबतक आप भरोसा नहीं करते और उसके अनुरूप जो कुछ आवश्यक हो, वह नहीं करते, तबतक लोगों में राजनिष्ठा पैदा करना असंभव होगा।" तिलक तथा इन अन्य नेताओं की अनुपस्थिति में गांधीजी ने परिषद् में भाग लेने से इन्कार कर दिया।

२७ तारीख को वाइसराय ने गांधीजी को मिलने के लिए बुलाया। उनके साथ हुई बातचीत के परिणामस्वरूप गांधीजी परिषद् में हाज़िर रहे। लेकिन परिषद् नाकामयाब रही।

इसके बाद प्रांतीय परिषदों का कार्यक्रम रखा गया। बंबई की प्रांतीय परिषद् १० जून को हुई। इसमें गांधीजी के अनुरोध से लॉर्ड विलिंगडन ने लोकमान्य तिलक तथा राष्ट्रीय पक्ष के अन्य नेताओं को भी निमंत्रित किया था। परिषद् के उद्घाटन-भाषण में लार्ड विलिंगडन ने होमरूल मांगने-वालों की राजनिष्ठा आदि के बारे में आक्षेप किये। इससे लोकमान्य तिलक को भी अपने पूर्व नियोजित भाषण में कुछ परिवर्तन करने पड़े। अपने भाषण में उन्होंने कहा, "हिन्दुस्तान पर अगर कोई आक्रमण करे, तो हिन्दुस्तानी उसका प्रतिकार करने के लिए अपनी जान तक कुर्बान कर देंगे। किन्तु स्वराज्य और स्वदेश-संरक्षण, इन दोनों का सम्बन्ध तोड़ा नहीं जा सकता।" लोकमान्य के मुँह से यह वाक्य निकलते ही लॉर्ड विलिंगडन ने उनको आगे बोलने से रोकते हुए कहा, "इस परिषद् में

में राजनीति की चर्चा नहीं होने दूंगा।" लोकमान्य ने जवाब दिया, "तो ऐसी परिस्थिति में परिषद् से चले जाने के सिवा किसी भी स्वाभिमानी आदमी के लिए दूसरा मार्ग नहीं रहता है।" यह कहकर वह सभा-भवन से बाहर निकल आये। केलकर को भी इसी तरह परिषद् को छोड़कर चला जाना पड़ा और उनके पीछे श्री हॉर्निमन, जमनादास, बमनजी आदि भी परिषद् से निकलकर आगए।

तिलक ने विलिंगडन की इस हरकत की कड़ी टीका की। उन्होंने कहा कि विलिंगडन की यह हरकत भोजन के लिए बुलाकर खाना खिलाने की जगह खानसामे से तमाचा लगवाने जैसी थी।

१६तारीख को 'स्वराज्य-दिवस' मनाया गया। इस अवसर पर भाषण देते हुए लोकमान्य ने कहा, "सरकार हमें कानून के खिलाफ़ बताती है, लेकिन है वह खुद। कौन ऐसा है जो देश के बंधन सख्त करने में सरकार की सहायता करना चाहेगा ?...अगर सरकार फौज में हमें (हिन्दुस्तानियों को) ऊपरी पद (कमीशन्ड रैंक) प्रदान करना स्वीकार करले, तो मैं पांच हजार लोग फौज में भरती करा दूं। अगर ऐसा करने में (पांच हजार आदमी भरती करने में,मैं कामयाब न हुआ तो जितने आदमी कम होंगे उनके लिए प्रति आदमी सौ रुपये जुर्माना दूंगा।...जमानत के तौर पर मैं पचास हजार रुपये गांधीजी के पास रखने के लिए तैयार हूं।"

जुलाई के आरम्भ में मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट प्रकाशित हुई। उसकी तीन प्रतियां ७ तारीख को लोकमान्य के पास डाक से आईं। शाम तक लगातार बैठकर उन्होंने उसे पढ़ डाला। दूसरे दिन 'सबेरा हुआ है, पर सूरज कहां है?' शीर्षक से उन्होंने 'केसरी' में एक लेख लिखा। रिपोर्ट के बारे में लोकमान्य का मत जानने के लिए सरकार बड़ी उत्सुक थी। कहा जाता है कि ९ तारीख को मंगलवार की सुबह सरकार ने एक खास आदमी भेजकर 'केसरी' का अंक मंगवाया था।

अगस्त में मांटफोर्ड रिपोर्ट (मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट) प्रकाशित कर दी गई। इस रिपोर्ट पर विचार करने के लिए अगस्त के अन्त में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन बुलाया गया। नरम दलवाले इसमें शामिल नहीं हुए। अधिवेशन में इस सुधार-योजना को अपूर्ण, असंतोषजनक तथा

निराशाजनक बताया गया और इस बात की मांग की गई कि देश में उत्तरदायी शासन स्थापित करने के लिए उसमें आवश्यक सुधार किये जायं। रिपोर्ट में हिन्दुस्तानी जनता को स्वराज्य के लिए अयोग्य बताने की कोशिश की गई थी। इसकी सख्त निंदा की गई। यह निश्चित किया गया कि इस बारे में बातचीत करने के लिए एक प्रतिनिधि-मंडल इंगलैण्ड भेजा जाय। प्रतिनिधियों का चुनाव करने के लिए एक विशेष समिति नियुक्त की गई।

तिलक ने इंगलैण्ड जाने के लिए पासपोर्ट फिर से पाने की कोशिश की तो जुलाई के तीसरे सप्ताह में उन्हें इस शर्त पर पासपोर्ट मिल गया कि इंगलैण्ड में वह किसी तरह का राजनैतिक आन्दोलन नहीं खड़ा करेंगे। उन्हें अपने दो साथियों के साथ जाने की आज्ञा मिल गई।

: ४२ :

इंगलैण्ड में

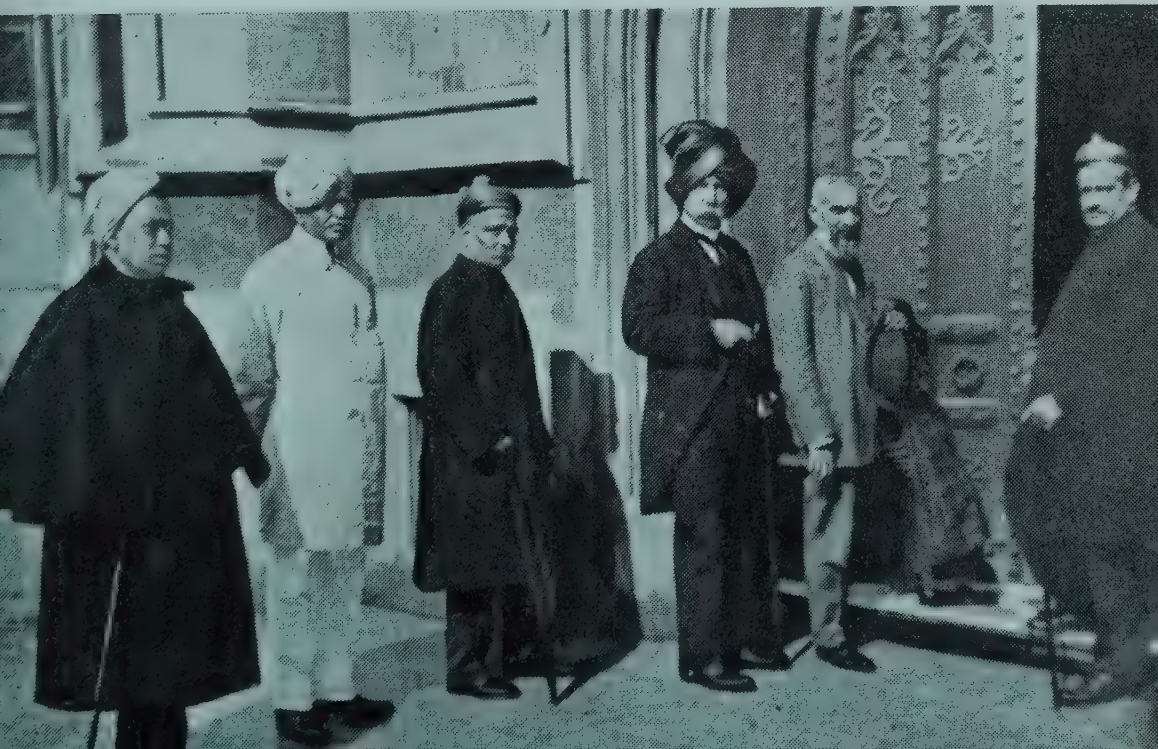
पासपोर्ट मिल ही चुका था। कांग्रेस का विशेष अधिवेशन समाप्त होने के बाद लोकमान्य ने इंगलैण्ड के लिए प्रस्थान किया। वासुदेवराव शास्त्री, स्व० नामजोशी के पुत्र गणपतराव नामजोशी और दादासाहब करंदीकर उनके साथ थे। २३ सितम्बर को वे लोग बंबई से रवाना हुए और ३० अक्तूबर को इंगलैण्ड पहुंच गए। रास्ते में अदन पहुंचने पर हिन्दुस्तान से तार द्वारा खबर मिली कि कांग्रेस के आगामी दिल्ली-अधिवेशन के लिए उन्हें अध्यक्ष चुना गया है। उसके लिए उनका आना तो मुश्किल था; किन्तु इस चुनाव के कारण इंगलैण्ड में कांग्रेस के निर्वाचित अध्यक्ष की हैसियत से बोलने का अधिकार उन्हें अवश्य मिल गया।

तिलक के विलायत पहुंचने के समय ही महायुद्ध समाप्त हुआ था और संधि की शर्तों के बारे में चर्चा शुरू हुई थी। इस तरह परिस्थिति बदल जाने के कारण तिलक को ऐसा लगा कि जिस मुकदमे के संबंध में (शिरोल का मुकदमा) वह वहां गए थे, उसमें सफलता मिलने की आशा कम ही है। फिर भी वह अपने वकील स र जॉन सायमन से मिले।



अमृतसर-कांग्रेस में प्रमुख देशनायकों के साथ लोकमान्य (बाईं ओर से तीसरे)

इंगलैण्ड जानेवाला प्रतिनिधि-मंडल (लोकमान्य बाईं ओर से तीसरे हैं)



सायमन ने भी यही सलाह दी कि अब मुकदमा चलाने में कोई सार नहीं है। लेकिन कठिन समय में इतना लंबा सफर तय करके तिलक इसी काम के लिए वहां गए थे। अतः उनको यह सलाह कैसे जंच सकती थी ? मुकदमे की सुनवाई की तारीख की वह राह देखते रहे।

१३ नवम्बर को लोकमान्य ने ब्रिटेन के मुख्य मंत्री लायड जार्ज को एक पत्र लिखकर युद्ध में विजय के लिए बधाई दी। तिलक को विलायत जाने की इजाज़त सरकार से इसी शर्त्त पर मिली थी कि इंगलैण्ड में वह किसी प्रकार का राजनैतिक आन्दोलन नहीं करेंगे। लेकिन हिन्दुस्तान और इंगलैण्ड के राजनैतिक वातावरण में जमीन-आसमान का अंतर था। इस कारण उन्होंने जब अपने पर लगाये गए प्रतिबंध दूर करने के लिए कार्रवाई शुरू की तो एक महीने के अन्दर ही वे दूर कर दिये गए। उनका परिणाम यह हुआ उन्होंने स्वराज्य या होमरूल के संबंध में प्रचार तथा प्रकाशन शुरू किया, इसमें से कुछ साहित्य अमरीका के प्रेसिडेण्ट विलसन तथा फ्रांस के राजनीतिज्ञ क्लिमेंशों को भी पहुंचाया गया।

इंगलैण्ड में तिलक अपने साथियों सहित बैरिस्टर बेप्टिस्टा द्वारा तय किये हुए एक मकान में ठहरे। उन्होंने वहां मैकनाल्टी नामक एक परिवार को, जिसमें पति-पत्नी और उनकी लड़की थी, अपनी सेवा के लिए रखा। बाहर का काम मेकनाल्टी करता और उसकी पत्नी एवं लड़की रसोई तथा घर का काम-काज करतीं।

विलायत में तिलक की दिनचर्या लगभग भारत जैसी ही रही। वह सबेरे ६-७ बजे उठते और प्रातःविधि से निवृत्त होकर अपने कार्य में लग जाते। पहनावा उन्होंने कोट, पतलून, बूट आदि का ही रखा था। हजामत वह सेफ्टी-रेज़र से खुद ही बनाते थे। सुबह की चाय के समय ही अखबार पढ़ लेते थे। बाद में पत्र-व्यवहार का कार्य करते थे। नामजोशी उनके निजी मंत्री एवं परिचारक का काम करते थे।

इंगलैण्ड में तिलक का मुख्य काम शिरोल-केस की तैयारी करना था। इस मुकदमे का विस्तृत हाल अगले अध्याय में दिया गया है। २९ जनवरी से २१ फरवरी तक का समय तो मुकदमेकी सुनवाई में बीता। मुकदमेमें तिलक को सफलता नहीं मिली, पर इंगलैण्ड में इस मामले को लेकर उनकी चर्चा

बहुत हुई। मुकदमे से फारिग होने पर तिलक ने राजनैतिक काम की ओर ध्यान दिया।

३ अप्रैल के अपने पत्र में वह लिखते हैं, "शिरोल-केस का फैसला हमारे प्रतिकूल रहा। किन्तु यहां से तुरन्त हिन्दुस्तान लौटने का मेरा इरादा नहीं है। मेरे स्वास्थ्य की आप चिन्ता न करें। ऐसे कई विकट प्रसंगों का मुझे अनुभव है। अगर ऐसे प्रसंगों का मुझ पर असर हुआ होता तो आज मैं जीवित न होता।"

केलकर को एक पत्र में उन्होंने लिखा, "विविध-क्षेत्रों में काम करनेवाले प्रभावशाली और जोरदार प्रतिनिधि मण्डल इस समय इंगलैण्ड भेजे जाने चाहिए।" उन्होंने इसके लिए रवीन्द्रनाथ ठाकुर, श्रीमती एनी बेसेण्ट तथा चित्तरंजन दास आदि के नाम भी सुझाये।

कहीं आते-जाते उनके पैर में मोच आगई और चलने-फिरने में कुछ तकलीफ होने लगी। किन्तु इस कारण उन्होंने अपने कार्यक्रम में कोई फर्क न आने दिया। वह लिखते हैं, "बाहर जाते समय नामजोशी के कंधे पर हाथ रखकर टैक्सी में बैठ जाता हूं। भाषण के लिए कुर्सी पर बैठते ही मेरा काम शुरू हो जाता है। दर्द पांव में है; पर ज़बान तो साबुत है न!"

कांग्रेस की ओर से इंगलैण्ड में प्रचार करने के लिए ब्रिटिश कांग्रेस कमेटी स्थापित की गई थी। उसकी ओर से 'इण्डिया' नामक एक पत्र प्रकाशित होता था। उसका पूरा खर्च वगैरा कांग्रेस की ओर से मिलता था। पर वह कांग्रेस की नीति का प्रचार व समर्थन करने के बदले कुछ उल्टा ही काम कर रहा था। लोकमान्य ने उसकी व्यवस्था तथा नीति ठीक करने का काम अपने हाथों में लिया। 'इण्डिया' पत्र के संपादक पोलक को मजबूर होकर इस्तीफा देना पड़ा। उनकी जगह बाद में केलकर तथा मिस नोर्मन्टन उसके संपादक बनाये गए।

श्रीमती एनी बेसेन्ट जब इंगलैण्ड गईं तो उन्होंने ब्रिटिश जनता के सामने कांग्रेस की जो मांग पेश की उसके बारे में उनके और लोकमान्य के बीच मतभेद पैदा होगया। एनी बेसेण्ट बंबई के विशेष अधिवेशन में पास किये गए प्रस्ताव का समर्थन करती थीं और लोकमान्य उसके बाद हुए दिल्ली-

अधिवेशन के पास किये प्रस्ताव का प्रतिपादन करते थे। वैधानिक दृष्टि से तिलक का पक्ष सही था, क्योंकि वह कांग्रेस के आखिरी अधिवेशन के प्रस्ताव को समर्थन देते थे। होमरूल लीग के दिनों में इन दोनों ने एक साथ मिलकर बड़े जोरों से आन्दोलन चलाया था। किन्तु अब परिस्थिति बदल जाने से वह संबंध कायम न रहा। जब लोकमान्य भारत लौट आये तो उन्होंने इस बात की घोषणा भी कर दी। ऐसा करते हुए उन्होंने संस्कृत का नीचे लिखा श्लोक उद्धृत किया :

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वत् भूत समागमः ॥[1]

जुलाई के अन्त में इंडिया ऑफिस में मांटेग्यू के साथ तिलक की काफी बातचीत हुई। उसके एक सप्ताह बाद पार्लमिण्टरी कमेटी के सम्मुख राजनैतिक सुधारों के विषय में उन्होंने एक स्मरण-पत्र दिया। कमेटी की प्रश्नावली के उत्तर तो उन्होंने पहले ही लिख भेजे थे। कमेटी की ओर से और स्पष्टीकरण की मांग होने पर उन्होंने कांग्रेस की स्वराज्य संबंधी भूमिका तथा दृष्टिकोण को विस्तृत रूप में पेश किया। उसके बाद मांटेग्यू से उनकी फिर मुलाकत हुई। मांटेग्यू के मन पर उनकी बहुत अच्छी छाप पड़ी। उनके व्यक्तित्व का उन पर जो प्रभाव पड़ा, उसका विवरण देते हुए एक तत्कालीन ब्रिटिश मंत्री ने कहा है, "तिलक ही एक ऐसे व्यक्ति हैं कि जिन्हें किसी प्रकार का लालच देकर या प्रभाव डालकर हम वश में नहीं कर सकते। अन्य सब पर तो हम प्रभाव आदि डालकर उन्हें थोड़ा-बहुत अपने वश में कर सकते हैं।"

सितम्बर में रॉयल एशियाटिक सोसायटी के भवन में प्राच्य विद्या परिषद् की बैठक में भाग लेने तिलक वहां गए थे। वहां एसेक्स हॉल में हुई एक सभा में चमनलाल सकलतवाला आदि ने यह बताने की कोशिश की कि तिलक तो बड़े नरम हैं। इंगलैण्ड में स्वतंत्रता के वातावरण में

---

१. जैसे एक लकड़ी दूसरी लकड़ी से आकर समुद्र में मिल जाती है, और मिलकर अलग हो जाती है उसी प्रकार प्राणी भी परस्पर मिलते हैं और पृथक हो जाते हैं।

भाषण की पूरी छूट थी। इसी कारण वह इस प्रकार बोल सकते थे। लेकिन लोकमान्य तिलक उनके इस कथन से प्रभावित हुए बिना उनको जवाब-सा देते हुए बोले, "मुझसे यहां जो प्रश्न पूछे गए हैं, वे अगर भारत में पूछे गए होते तो उनका जवाब देना कितना मुश्किल होता, यह आप नहीं जानते हैं। जब मैंने राजनीति में प्रवेश किया था, उस समय 'स्वराज्य' शब्द का उच्चारण करने की भी लोगों में हिम्मत नहीं थी। ऐसे लोगों के द्वारा हम आज होमरूल की मांग कर रहे हैं। ऐसा करने के लिए हमें कितनी दिक्कतें सहनी पड़ी होंगी, इसका आपको पता नहीं है।"

आठ सितम्बर को सेंट ऐण्ड्रयूज़ में ट्रेड यूनियन कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। उसमें लोकमान्य ने अपने प्रतिनिधि मंडल का उद्देश्य अधिवेशन को समझाया और उनसे भारत की मांग के प्रति सहानुभूति की मांग की। उस सभा में तिलक का परिचय कराते हुए रैमज़े मैकडोनाल्ड ने कहा था, "भारत-सरकार के विरोध में लोगों की जो शिकायतें हैं, भारतीय जनता को जो कष्ट सहने पड़ते हैं, इन तिलक को उनका मूर्त्त रूप ही समझिये।"

जिन दिनों तिलक विलायत में थे, उन्हीं दिनों भारत में रॉलट कमेटी की सिफारिश के अनुसार दो बिल केन्द्रीय विधान-सभा में पास किये गए। उनके विरोध में सारे देश में आन्दोलन शुरू हुआ। नरम दल के शिरोमणि चंदावरकर ने भी इन बिलों के विषय में अपनी नापसंदगी जाहिर की और कहा, "व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर हमला करनेवाले तथा न्याय के मूलभूत सिद्धान्तों का खात्मा करनेवाले इन बिलों को मंजूर नहीं करना चाहिए।" पंडित मदनमोहन मालवीय ने इनके खिलाफ घंटों तक असेंबली में भाषण किया, किन्तु सरकार ने अपने बहुमत के बल पर इन बिलों को पास कर दिया।

इस पर गांधीजी ने सत्याग्रह का आन्दोलन शुरू किया। प्रार्थना, हड़ताल और २४ घंटे का उपवास एवं इन दोनों बिलों के प्रति विरोध व्यक्त करने के लिए सभाएं करने के प्रस्ताव पास करने आदि से इस आन्दोलन की शुरूआत हुई। दिल्ली में ३० मार्च को इस कार्यक्रम के अनुसार कार्य किया गया।

६ अप्रैल को सारे देश में 'सत्याग्रह-दिवस' मनाया गया। उस दिन

सरकार द्वारा ज़प्त की गई पुस्तकों की खुल्लम-खुल्ला बिक्री करके लोगों ने प्रेस-कानून भंग किया। कई स्थानों पर बड़ी गड़बड़ी मची और कहीं-कहीं तो सरकार ने मार्शल-लॉ भी लगा दिया।

सबसे ज्यादा अनर्थ अमृतसर में हुआ। सिक्खों के सुवर्ण मंदिर के पास 'जलियांवाला बाग' में जनरल डायर ने गोली चलाकर बच्चे-जवान-बूढ़े स्त्री-पुरुषों को भून दिया। पंजाब में और जगहों पर फौजी कानून लागू करके लोगों का अपमान किया गया और उन पर अमानुषिक अत्याचार किये गए। फौजी कानून की वजह से अप्रैल में हुई इस घटना के बिस्तृत समाचार विलायत के लोगों को कहीं अक्तूबर में जाकर मिले।

तिलक इससे बड़े क्षुब्ध हुए। उन्होने अब इंगलैण्ड ज्यादा दिन रहना ठीक न समझा। इधर कांग्रेस का अमृतसर का अधिवेशन भी नजदीक आगया था। इसलिए उन्होंने भारत वापस लौटने का निश्चय किया। 'केसरी' की छपाई के लिए मोनो तथा लाइनो टाइप वगैरा की मशीनों और दूसरी सामग्री का आर्डर देकर ६ नवम्बर को वह हिन्दुस्तान के लिए रवाना हुए।

: ४३ :

शिरोल-मुकदमा

सर वेलेन्टाइन शिरोल इंगलैण्ड के 'कंजर्वेटिव' पत्र 'लंदन टाइम्स' के विदेशी विभाग का संचालक था। उसमें साम्राज्यवादी अंग्रेज की शेखी शुरू से ही थी। १९०३ में दिल्ली में हुए शाही दरबार की रिपोर्ट प्राप्त करने के लिए वह हिन्दुस्तान आया था। उन दिनों प्लेग फैल रहा था। इस कारण गाड़ी के मुसाफिरों की जगह-जगह पर जांच की जाती थी। सहारनपुर स्टेशन पर एक भारतीय डाक्टर ने शिरोल के डिब्बे में आकर उसकी नाड़ी देखने के लिए उसके शरीर का स्पर्श किया। मगर साहब बहादुर को एक काला आदमी इस प्रकार छुए, यह बात कैसे पसन्द आती ! उसने डाक्टर को पीट दिया। उसे यह बताया गया कि यह डाक्टर है और इसका काम जांच करना है; पर उसकी परवाह न करके शिरोल ने अपने नाम का कार्ड दिखाकर यह धमकी दी कि वह उसकी

शिकायत करेगा। डाक्टर ने शिरोल की शिकायत बाकायदा दर्ज कराई। शिरोल ने लॉर्ड कर्ज़न से बीच में पड़ने की प्रार्थना थी। मगर उसका कोई फल न निकला और उसे अदालत में हाजिर होकर काले डाक्टर से माफी मांगनी पड़ी।

इसके बाद सन् १९३० में वह फिर हिन्दुस्तान की राजनैतिक स्थिति के संबंध में 'टाइम्स' को रिपोर्ट देने के लिए यहां आया। 'टाइम्स' जैसे पत्र के प्रतिनिधि के नाते हिन्दुस्तान की नौकरशाही शिरोल के लिए सारे साधन उपलब्ध कर दे, उसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। सरकार का दफ्तर, पुलिस विभाग की रिपोर्टें आदि सबकुछ उसके लिए खुले थे। इसके सिवा कोल्हापुर जैसी रियासत की भी उसे बड़ी मदद मिली और उसने 'टाइम्स' को लेख भेजे। इन लेखों में उसने राष्ट्रीय आन्दोलन एवं उसके नेता लोकमान्य तिलक को बुरी तरह से बदनाम किया। तिलक को उसने 'भारतीय अशांति का जनक' (फादर ऑफ इण्डियन अनरेस्ट) कहा। ये लेख बाद में 'इण्डियन अनरेस्ट' नाम से पुस्तक के रूप में भी प्रकाशित किये गए। तिलक के जेल से छूटने पर यह पुस्तक उनके देखने में आई। अपने विषय में उसमें निन्दात्मक बातें देखकर उन्होंनें इंगलैण्ड के हाई कोर्ट में शिरोल के खिलाफ मुकदमा दायर करने का निश्चय किया। तिलक ने शिरोल के लेखों के जिन अंशों पर मानहानि के आरोप लगाये थे, वे इस प्रकार हैं :

१. मुसलमानों को तंग करने के लिए तिलक ने गो-रक्षा मंडल की स्थापना की।
२. सरकार के खिलाफ हिंसक प्रवृत्ति फैलाई जा सके, इस उद्देश्य से तिलक ने अखाड़ों की स्थापना की।
३. ताई महाराज के मुकदमे में हाई कोर्ट के फैसले के मुताबिक तिलक चरित्रहीन और अप्रामाणिक व्यक्ति हैं।
४. तिलक के उत्तेजनापूर्ण लेखों के कारण ही रैण्ड, आयर्स्ट, जैक्सन आदि के खून हुए। इसलिए तिलक को ही इनका जिम्मेदार मानना चाहिए।

तिलक की ओर से सॉलिसिटर द्वारा १४ नवम्बर १९१४ को दावा

दायर किया गया। उसके बाद वादी पक्ष के बयान आदि लिये गए। प्रमाण इकट्ठा करने के लिए एक आयोग हिन्दुस्तान आया। शिरोल खुद भी हिन्दुस्तान आया और सरकार की ओर से उसे बहुत-कुछ मदद दी गई। लेकिन तिलक ने जब इस प्रकार की मदद मांगी तो यह कहकर इन्कार कर दिया गया कि कागजात 'गोपनीय' हैं।

तिलक की ओर से मुकदमे की पैरवी करने के लिए पहले सर एडवर्ड कार्सन को रखने का प्रयत्न किया गया था और उनको दस्तावेज भी दे दिये गए। किन्तु बाद में उन्होंने इन्कार कर दिया। तब तिलक की ओर से सर जॉन सायमन को वकील किया गया।

२९ जनवरी १९१९ को न्यायाधीश डार्लिंग की अदालत में मुकदमा शुरू हुआ। विलायत में दीवानी दावे भी जूरी के सामने चलते हैं, इसलिए इस मुकदमे में भी जूरी नियुक्त किये गए।

सर जॉन सायमन ने मुकदमे की तफसील समझाते हुए वक्तव्य दिया, जो करीब सात घंटे तक चला होगा। सायमन का भाषण समाप्त होते ही सर एडवर्ड कार्सन जिरह के लिए खड़े हुए। तिलक और कार्सन के बीच लम्बे अर्से तक गरमागरम वाद-विवाद और जिरह हुई। उससे कार्सन ने यह जरूर महसूस किया होगा कि उसे भी खरी-खरी सुनानेवाला कोई है। इस जिरह के कुछ अंश नीचे दिये जाते हैं :

"आपने जुल्मी सरकार के विषय में लिखा है। क्या उसमें अंग्रेजों के राज्य का भी समावेश होता है?"

"तमाम जुल्मी राज्यों का समावेश होता है। ब्रिटिश अधिकारी जब अपनी सत्ता का ऐसा उपयोग करते हैं तब उन पर भी यह बात लागू हो जाती है। लोगों के विषय में लिखते हुए मैंने तो आयरिश लोगों के बारे में भी लिखा है।"

"इस बात को छोड़िये। यहां हम आयरिश लोगों का न्याय करने नहीं बैठे हैं।" (चूंकि कार्सन अलस्टर—उत्तर आयरलैण्ड—के निवासी थे, इसलिए उन्हें आयरलैण्ड का उल्लेख चुभ गया।)

"बम-कांडों का कारण क्या बंगाल का विभाजन था?"

"हां, आपके आयरलैण्ड में जैसा हुआ, वैसा ही वहां भी हुआ।"

"आप अलस्टर की बात क्यों करते हैं ? अलस्टर अपनी चिन्ता खुद कर लेगा। क्या आपका यह खयाल है कि ऐसी व्यक्तिगत बातें पेश करके आपको कोई लाभ होगा ?"

"मैं कोई व्यक्तिगत बात नहीं कह रहा हूं। लेकिन जिन लेखों को आपने पढ़ा है, उनमें आयरलैण्ड का भी जिक्र है, इसलिए मैंने यह बात कही।"

"वाई के लोगों को मि० रैण्ड ने जो सजा दी थी, वह क्या अन्याय-पूर्ण थी ?"

"जी हां।"

"और यही वह सज्जन हैं, ऐसा आपने पूना के लोगों से कहा था ?"

"सच बात कहने में चोरी काहे की ?"

"क्या रैण्ड साहब किसी गलत बात पर अमल करते थे ?"

"क्यों नहीं। वह अपनी मर्जी के मुताबिक ही चलते थे। आखिर हाकिम थे न ? 'अमल करना' वह बराबर जानते थे।"

"शिवाजी के चरित से क्या सबक लिया जाना चाहिए ? शत्रु को मार डालने का ?"

"नहीं। स्वाभिमान, स्वावलम्बन, उद्यमशीलता, देशाभिमान आदि का।"

"शिवाजी के कार्यों में सबसे श्रेष्ठ कौन-सा कार्य है ?"

"हिन्दू-पादशाही स्थापित करना।"

"और वह अफजल खां को मारकर ही न ?"

"यह तो उनके अनेक कामों में से एक काम था।"

"ऐसा यदि वह न करते तो क्या राज्य की स्थापना कर पाते ?"

"यह कैसे कहा जा सकता है ? मान लीजिये कि हम यहां क्रॉमवेल की जयन्ती मनाने जा रहे हैं, तो इसका अर्थ यह तो नहीं होता कि हम लोग इंगलैण्ड के राजाओं को मारना जारी रखते हैं।"

× × ×

"श्री भट को नासिक मुकदमे में सजा होने के बावजूद आपने उन्हें 'केसरी' कार्यालय में नौकर रखा था न ?"

"हां, मैंने उन्हें काम पर लगाया था।"

"वह आपके यहां अब भी काम पर हैं न ?"

"मैं यहां आया तबतक तो जरूर थे।"

"आप अधूरी बात क्यों करते हैं ? शरमाते क्यों हैं ?"

"इसमें मुझे शरमाने की क्या बात है। राजद्रोह की सजा पाये हुए लोग आपकी पार्लमिण्ट में भी तो बैठते हैं न ? "

× × ×

"तो आखिर आप किस किस्म की भाषा को राजद्रोह मानते हैं ?"

"आयरिश होमरूल पर दिये गए आपके भाषणों के उद्धरणोंवाली भाषा को।"

× × ×

"सभाओं और अर्ज़ियों को आप बच्चों का खेल कहते हैं न ?"

"अवश्य। जब उनका और कोई खास उपयोग नहीं होता, तब उन्हें बच्चों का खेल ही कहा जायगा।"

"मगर इससे ज्यादा और क्या करना ज़रूरी था ?"

"अहिंसात्मक प्रतिकार।"

"इसके मानी क्या होते हैं ?"

"स्वयं कष्ट सहन करके प्रतिकार करना।"

"खुद कष्ट सहन करके प्रतिकार कैसे होता है ?"

"धर्मग्रंथों में यह बात कही गई है कि धार्मिक भावना से हम कष्ट सहन करते हैं तो उसका असर दूसरों पर होता ही है।"

कार्सन ने अपने बचाव के भाषण में शिरोल तथा उनकी पुस्तक की तारीफ करते हुए तिलक के सम्बन्ध में कहा, "तिलक ने इतनी दूर आकर जो दावा किया है इसके पीछे उनका हेतु है, और वह यह कि इससे उनकी इज्जत और साख बढ़ेगी और द्रव्य लाभ भी होगा।...मैं तो यही कहूंगा कि तिलक अंग्रेजों को हिन्दुस्तान से खदेड़ने की आजीवन साजिश करते रहे हैं। अनथक उद्योगशीलता, दूसरों पर अपना प्रभाव तथा आतंक जमाने की उनकी शैली और किसी भी किस्म के साधनों का उपयोग करने की उनकी कुशलता की बदौलत उन्होंने भारतीय कांग्रेस के

नेताओं पर भी अपना काफी असर डाल रखा है तथा हरएक खराब आदमी के साथ उनका किसी-न-किसी रूप में जरूर सम्बन्ध है।"

जूरी को संबोधित करते हुए कार्सन ने कहा, "आप इस बात को न भूलें कि यह एक सार्वजनिक मुकदमा है और इस दृष्टि से इसका बड़ा महत्त्व है; क्योंकि यदि आपका निर्णय तिलक के अनुकूल हुआ तो यह हिन्दुस्तान में जाकर कहेंगे, 'मैंने यहां यह सब लिखा और कहा, लेकिन विलायत की जूरी ने मुझे निर्दोष छोड़ दिया। मुझे अब फिर ऐसा लिखने या बोलने के लिए किसी से डरने की जरूरत नहीं।' हिन्दुस्तान में गोरे हाकिमों को बड़ी कठिनाई से काम करना होता है। तब जाकर ब्रिटिश सरकार वहां शांति और अमन कायम रख पाती है। इसलिए इन सब बातों पर आपके अनुकूल फैसले का कैसा असर होगा, इसका आप ध्यान रखें।"

उसके बाद सर जॉन सायमन ने और फिर न्यायमूर्त्ति डार्लिंग ने जूरी को मुकदमा समझाते हुए भाषण दिये। २१ फरवरी को जूरी ने २७ मिनिट परामर्श करने के बाद अपना निर्णय प्रतिवादी—शिरोल—के पक्ष में दिया। न्यायाधीश ने प्रतिवादी को वादी से उसका खर्च भी दिलवाया।

इस मुकदमे के फैसले से इंगलैण्ड के हिन्दुस्तानियों में यदि सबसे अधिक किसी को आश्चर्य हुआ, तो वह स्वयं तिलक को ही हुआ। लेकिन जब प्रतिवादी के वकील की ओर से खुले आम यह जाहिर किया गया कि अगर फैसला तिलक के पक्ष में हुआ तो हिन्दुस्तान में अंग्रेजों के राज्य पर जबरदस्त संकट आ जायगा, तब इसके सिवा और दूसरा निर्णय हो भी क्या सकता था?

कार्सन का चरित्र-चित्रण करते हुए अंग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक आर० जी० गार्डिनर लिखते हैं, "कार्सन ऐतिहासिक ज़माने के एक दुष्ट देवता हैं।...वह न होते तो विद्रोही अलस्टर प्रान्त की कोई बात भी न पूछता।...अदालत में आकर वह मामूली-सा भी विरोध करते हैं तो ऐसा मालूम होता है मानो आकाश में बादलों की गड़गड़ाहट हो रही हो। जूरी को दबाने में उनकी कोई सानी नहीं रखता। मुकदमे में राजनीति का उपयोग किस कुशलता से किया जा सकता है और विरोधी पक्ष पर

दुष्ट हेतु का आरोप कैसे लगाया जा सकता है, यह अगर किसीको सीखना हो तो कार्सन के पास जाय।"

शिरोल के मामले के सम्बन्ध में तिलक का सारा अनुमान गलत साबित हुआ। उनका अंदाज था कि मुकदमे में आध-पौन लाख के करीब खर्च होगा। विलायत के लिए रवाना होते समय वह घर गिरवी रखकर आये थे। उन्होंने कहा था कि अगर फैसला विपक्ष में हुआ तो वह अपनी लिखी जानेवाली पुस्तकों की आय से कर्ज चुका देंगे, किन्तु मुकदमे में आशा के विपरीत लगभग ढाई-तीन लाख रुपये खर्च होगए।

मुकदमे का फैसला हो जाने के बाद शिरोल ने एक अखबार के प्रतिनिधि को मुलाकात देते हुए कहा था, "मैं वर्षों से अखबार में लिखने का धंधा करता आया हूं। इस बीच मेरे देखने में केवल दो ही ऐसे निडर पुरुष आये, जिन्होंने मुझसे डटकर जवाब-तलब किये हों। ये दोनों हैं: एक तिलक और दूसरे जर्मनी के बादशाह कैसर।"

मुकदमे के पांच-छह वर्ष बाद अपनी 'इण्डिया' नामक पुस्तक में तिलक के बारे में उसने लिखा, "वर्तमान युग में उनके जैसा दूसरा कोई लोकोत्तर पुरुष नहीं हुआ। शायद गांधी उनके समकक्ष हो सकते हैं। उनमें नेता के गुण जन्म-सिद्ध थे। लखनऊ में जब उनकी और श्रीमती बेसेण्ट की जोड़ी सभा-मंच पर आई, तब लोगों ने उनका इस प्रकार अभिनन्दन किया मानो ईश्वर के अवतार प्रकट हुए हों!"

३० मई १६१६ के दिन बंबई में गांधीजी की अध्यक्षता में लोकमान्य के वास्ते चंदा इकट्ठा करने के लिए एक सभा हुई। उसमें तिलक की अबतक की सेवाओं के प्रति कृतज्ञता प्रकट की गई। गांधीजी ने कहा, "तिलक का और मेरा मार्ग भिन्न है, किन्तु स्वार्थ-त्याग और विद्वत्ता, ये उनके दो गुण तो अपनाने जैसे हैं; इसमें कोई मतभेद हो नहीं सकता। मैं इन न्याय की अदालतों से बिल्कुल ऊब गया हूं। इसलिए मुझे हमेशा यह लगा करता है कि तिलक यदि केवल सत्याग्रही होते तो कैसा सुन्दर होता!"

गांधीजी के उक्त कथन में बड़ी सचाई थी। गांधीजी ने अपने एक लेख में मिस मेयो को 'ड्रेन इन्स्पेक्टर' की पदवी देकर उसकी मिट्टी

पलीद कर दी, उसी प्रकार तिलक भी चाहते तो 'केसरी' व 'मराठा' में 'इण्डियन अनरेस्ट' की समालोचना करके अथवा उसके जवाब में एक स्वतन्त्र पुस्तक लिखकर भी शिरोल को मुंहतोड़ जवाब दे सकते थे और भारत में तो कम-से-कम उसका प्रभाव नष्ट कर सकते थे। ऐसा करने के बदले जिस सरकार के साथ उन्होंने सतत संघर्ष किया, उसी सरकार से न्याय प्राप्त करने की आशा में वह ठेठ विलायत तक गए। यह बात उनके विषय में गौरवास्पद नहीं मालूम होती, किन्तु 'वृद्धास्ते न विचारणीय चरिताः।'

: ४४ :

कीर्ति के शिखर पर

२७ नवम्बर को तिलक बंबई पहुंचे। वहां पहुंचने पर उनका भव्य स्वागत हुआ। सभाएं हुईं और मानपत्र दिये गए। उनका उत्तर देते हुए उन्होंने एक जगह कहा, "रॉलट बिलों के विरोध में गांधीजी ने जो सत्याग्रह शुरू किया था उसमें शामिल होने के लिए मैं यहां हाज़िर नहीं था, उसका मुझे बड़ा दुःख है।"

१ दिसम्बर को बंबई से वह पूना पहुंचे। उसी दिन वहां की नगर-पालिका ने उन्हें मान-पत्र दिया। यह पहला अवसर था कि जब इस नगरपालिका ने किसी गैर सरकारी व्यक्ति को मान-पत्र दिया था।

७ तारीख को पूना के नागरिकों की ओर से मान-पत्र दिया गया। उस समय नरम दल के नेताओं ने कुछ ब्राह्मणेतरों को साधकर यह कोशिश की कि मान-पत्र सारे शहर की ओर से न दिया जाय, बल्कि तिलक के प्रशंसकों की ओर से ही दिया जाय, किन्तु वह असफल रही।

इस स्वागत समारोह का उत्तर देते हुए इस बात के सम्बन्ध में लोकमान्य ने कहा, "अगर यह विरोधाभास न होता तो यह समारोह बिल्कुल फीका रहता।...मैं तो इसकी राह देख रहा था।"

२७ दिसम्बर को कांग्रेस का अधिवेशन अमृतसर में होनेवाला था।

इस अधिवेशन का खास महत्त्व था। सबसे पहली बात तो यह थी कि यह अधिवेशन उस जगह होनेवाला था, जहां की रोमांचकारी खबरों ने सारे भारत को हिला दिया था। इसके इन हत्याकांडों तथा मॉटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों के बारे में सारे राष्ट्र की राय इस अधिवेशन द्वारा व्यक्त होनेवाली थी। तीसरे, जो प्रतिनिधि-मंडल विलायत गया था, वह भी इस अधिवेशन में उपस्थित रहनेवाला था तथा अपने अनुभव सुनानेवाला था।

तिलक बंबई से स्पेशल ट्रेन से अमृतसर के लिए रवाना हुए। रास्ते में उन्हें भारतीय सुधार सम्बन्धी सम्राट् द्वारा की गई घोषणा के समाचार मिले। उन्होंने तुरन्त गंगापुर से भारत-सचिव के द्वारा सम्राट् को तार भेजा, "इण्डियन होमरूल लीग तथा भारतीय जनता इस घोषणा के लिए अपनी कृतज्ञता व्यक्त करती है। हमारी ओर से सम्राट् को आप प्रतियोगी सहयोग का विश्वास दिलाएं।" यहीं से 'प्रतियोगी सहयोग' (रस्पॉन्सिव-कोऑपरेशन) शब्द भारतीय राजनीति में एक दल की विशेष नीति रूप में प्रयुक्त होने लगा।

अमृतसर कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष स्वामी श्रद्धानन्द थे। कांग्रेस के इतिहास में यह पहला प्रसंग था जबकि एक संन्यासी उसके मंच पर खड़ा होकर प्रतिनिधियों का स्वागत कर रहा था। उन्होंने सभा से प्रार्थना की कि वह लोकमान्य का मार्ग-दर्शन स्वीकार करे।

इस अधिवेशन में जलियांवाला बाग में हुए हत्याकांड का स्मारक बनाने का प्रस्ताव पंडित मदन मोहन मालवीय द्वारा पेश होने पर तुरन्त एक लाख रुपये की सूची बन गई। हुल्लड़बाजी के विषय में भी सत्याग्रह-नीति के अनुकूल एक प्रस्ताव पास हुआ। किंतु इस अधिवेशन में जिस प्रस्ताव पर सबसे ज़्यादा मतभेद था वह था 'मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों' से संबंधित। इस पर काफी वाद-विवाद हुआ। अन्त में चित्तरंजन दास, बाळ गंगाधर तिलक और मोहनदास करमचन्द गांधी, इन तीनों की दृष्टि, जिसमें समाविष्ट हुई ऐसा निम्नलिखित प्रस्ताव पास हुआ :

"यह कांग्रेस अपनी गत वर्ष की इस घोषणा को दुहराती है कि भारतवर्ष पूर्ण उत्तरदायी शासन के योग्य है और इसके खिलाफ जो बातें समझी या कही जाती हैं, उनको यह कांग्रेस अस्वीकार करती है।

"वैधानिक सुधारों के संबंध में दिल्ली-कांग्रेस द्वारा पास किये गए प्रस्तावों पर ही यह कांग्रेस दृढ़ है और इसकी राय है कि सुधार-कानून अपूर्ण, असंतोषजनक और निराशापूर्ण है।

"यह कांग्रेस अनुरोध करती है कि आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के अनुसार भारतवर्ष में पूर्ण उत्तरदायी सरकार कायम करने के लिए पार्लामेण्ट को शीघ्र कार्रवाही करनी चाहिए।

"इस कांग्रेस का विश्वास है कि जबतक इस प्रकार की कार्रवाही नहीं की जाती, तबतक जहांतक सम्भव हो, लोग सुधारों को इस प्रकार काम में लायंगे कि जिससे भारतवर्ष में शीघ्र पूर्ण उत्तरदायी शासन कायम हो सके। इन सुधारों के संबंध में माननीय श्री इ० एस्० मांटेग्यू ने जो मेहनत की है, उसके लिए यह कांग्रेस उन्हें धन्यवाद देती है।"

तिलक अमृतसर से वापस पूना आगए। १४ फरवरी को सांगली में एक ज्योतिष-सम्मेलन हुआ। तिलक उसमें उपस्थित थे। उस सम्मेलन में भाषण देते हुए उन्होंने कहा, "आप ऐसा न मान लें कि केवल शुद्ध पंचांग निकाल देने भर से हमारा काम पूरा होगया। पंचांग-संबंधी हमारी प्रगति ऐसी सही व तीव्र हो जानी चाहिए कि वह नौवहन आदि के लिए भी उपयोगी हो जाय।" इसके लिए तिलक ने चार बातों पर जोर दिया, वेध-ज्ञान, वेध-शाला, हिन्दुस्तानी-वेधवेत्ता तथा इस वेधशाला द्वारा बननेवाला सूक्ष्म एवं शुद्ध पंचांग।

किन्तु पंचांग जैसे वैज्ञानिक विषय के बारे में लोकमान्य ने जो समझौते की प्रजातंत्री वृत्ति धारण की, उसका परिणाम यह हुआ कि उनकी प्रेरणा से बने पंचांग का महाराष्ट्र में भी प्रचलन न हो सका और पंचांग का यह सवाल अभीतक अनिर्णीत ही रहा है।

अप्रैल में शोलापुर में प्रांतीय परिषद् का अधिवेशन हुआ। यहां भी नरम दल के लोगों ने ब्राह्मणेतरों को साधकर परिषद् में गड़बड़ मचाने की कोशिश की। पत्थर वगैरा भी फेंके गए। इससे पुलिस को शांति स्थापित करने के लिए लाठी चलानी पड़ी। श्रीमती बेसेण्ट को भी इन लोगों ने शोलापुर बुलाया था। इस परिषद् में तिलक ने इस आशय का प्रस्ताव पेश किया कि अमृतसर की कांग्रेस में पास हुआ प्रस्ताव जिसे

मान्य हो उसीको मत दिया जाय। इस पर श्रीमती बेसेण्ट द्वारा एक संशोधन पेश किया कि कांग्रेस की नीति आमतौर पर जिन्हें मान्य हो उन प्रतिष्ठित लोगों को विधान सभाओं में भेजा जाय। परांजपे का अनुमोदन मिलने पर भी यह संशोधन पास न होसका।

शोलापुर से पूना लौटने के बाद लोकमान्य ने 'केसरी' में परांजपे को लक्ष्य करके 'प्रिंसिपाल, शिशुपाल या पशुपाल' शीर्षक लेख लिखकर उनकी बड़ी कड़ी टीका की। श्रीमती एनी बेसेण्ट के विषय में भी उन्होंने लिखा कि उनकी दशा पूतना जैसी बन गई है।

मार्च महीने के उत्तरार्ध में लोकनान्य ने सिंध का दौरा किया। करांची, हैदराबाद, शिकारपुर, सक्कर आदि शहरों में जाकर उन्होंने होमरूल का खूब प्रचार किया।

: ४५ :

कांग्रेस डेमाक्रेटिक पार्टी

मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों के अनुसार होनेवाले चुनावों में उम्मीदवारों को खड़ा करने के विषय में तिलक ने विचार करना शुरू किया। २० अप्रैल को उन्होंने कांग्रेस डेमाक्रेटिक पार्टी का घोषणा-पत्र प्रकाशित किया। यह तिलक के उस समय के विचारों को प्रतिबिंबित करता है।

कांग्रेस डेमाक्रेटिक पार्टी की नीति उसके नाम से ही स्पष्ट हो जाती है। कांग्रेस पर दृढ़ निष्ठा और लोकशाही पर अटल विश्वास, यही उसका मूल मंत्र था। हिन्दुस्तानकी जो समस्याएं और प्रश्न थीं, उनका हल निकालने तथा संपादन करने के लिए शिक्षा का प्रसार एवं मतदाताओं की संख्या में वृद्धि करना, ये दो उसके अमोघ शस्त्र थे।

इस पार्टी के द्वारा जाति-भेद या रूढ़ि के कारण कोई भी व्यक्ति नागरिक, व्यावहारिक या सामाजिक विषयों में जाति या रूढ़ि के कारण अयोग्य नहीं माना जाता था। धार्मिक आचार के बारे में यह दल पूरी स्वतंत्रता का हिमायती था। यह मानता था कि साम्राज्य में रहकर भी ग्रेट ब्रिटेन तथा उसके उपनिवेशों के साथ बराबरी का दर्जा भारत को

मिलना चाहिए और अपना सारा कारोबार भारत के ही कब्जे में होना चाहिए। इसकी मान्यता थी कि जिम्मेदार प्रतिनिधि शासन-पद्धति के द्वारा राज्य चलाने के लिए इस देश के लोग पूरी तरह योग्य हैं।

मांटेग्यू-सुधारों के द्वारा जो कुछ मिलता है उसे स्वीकार करके आगे के लिए कोशिश करना, इस दल की कार्य-नीति थी। उसके लिए लोकमत के अनुसार सरकार के साथ जहांतक संभव हो, सहयोग और आवश्यकता पड़ने पर वैधानिक विरोध करने की उसकी तैयारी थी।

२२ मई को लोकमान्य को पूना में तीन लाख रुपये की थैली अर्पण की गई। शिरोल-संबंधी मुकदमे के कारण उन पर कोई तीन लाख रुपये का कर्ज़ होगया था।

तिलक ने यह मुकदमा अपनी व्यक्तिगत हैसियत और जिम्मेदारी पर लड़ा था और वह मानते भी यही थे, पर भारत की जनता ने उसे अपना मुकदमा समझा और तिलक को आर्थिक ऋण से मुक्त करके अपना कर्त्तव्य पालन किया।

लोकमान्य ने आभार प्रदर्शित करते हुए कहा, "यद्यपि मैंने शिरोल पर व्यक्तिगत दावा किया था, फिर भी दरअसल झगड़ा तो सरकार के ही साथ था। इसका प्रमाण इस बात से भी मिलता है कि शिरोल के वकील कार्सन ने अदालत में कहा था कि, 'यह मुकदमा अगर तिलक जीत गए तो समझ लीजिये कि अंग्रेज सरकार पर भारी संकट आनेवाला है और उसे हिन्दुस्तान में राज्य करना मुश्किल हो जायगा।' और इस सार्वजनिक स्वरूप को ध्यान में रखकर ही आपने भी इतनी बड़ी निधि एकत्रित की है। मेरे लिए यह निधि एकत्र करके आप लोगों ने सचमुच मुझे खरीद लिया है।"

अगस्त १६२० में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन करना तय हुआ और लोकमान्य को उसका सभापति बनाने की चर्चा चलने लगी, लेकिन विधि को यह मंजूर न था। ३१ अगस्त की रात को ही उनका स्वर्गवास होगया।

इस प्रकार १६२० में भारतीय राजनीति में लोकमान्य का बेजोड़

स्थान बन गया था। पुरानी और नई पीढ़ी के वह प्रतिनिधि थे। सामाजिक और धार्मिक विषयों में शुरू में वह बिल्कुल कट्टर सनातनी वृत्ति के थे; किन्तु इधर तो कई सुधारक उनके अनुयायी बन गए थे। एक समय वह 'मुसलमानों के कट्टर शत्रु' माने जाते थे; लेकिन उन्होंने लखनऊ में हिन्दू-मुस्लिम एकता की जो हिमायत की थी, उसके कारण खिलाफ़त के नेता उनसे सहयोग की प्रार्थना कर रहे थे। १८९५ में उन्होंने सबसे पहले जिस स्वराज्य की पुकार की थी, उसकी प्रतिध्वनि १९०६ की कांग्रेस में, और बाद में १९१९ के 'गवर्मेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट' में सुनाई दी।

१८९६-९७ में उन्होंने किसानों को लगान न देने का जो उपदेश दिया था, वह गांधीजी के असहयोग के मंत्र का अंग बन गया था। सूरत में 'कांग्रेस को तोड़नेवाले' लोकमान्य आज उसके सबसे बड़े आधार एवं प्रस्तावित अध्यक्ष बन गए थे। सरकार उनसे डरती थी। एंग्लो-इण्डियन समाज उनसे द्वेष करता था। नरम दल के लोग उनसे घबराते थे। ऐसे लोकमान्य आज समस्त भारतीय प्रजा के प्रिय तथा सम्माननीय नेता बन जायं तो इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात थी? वह सच्चे अर्थोंमें लोकमान्य बन गए थे। उनके पीछे चालीस वर्ष की चैतन्यदायी स्मृतियां पड़ी थीं। आगे एक महान् आन्दोलन खड़ा था और सारा देश आशा के साथ तिलक की ओर उनके मार्गदर्शन के लिए देख रहा था।

ऐसी परिस्थिति में १ अगस्त को गांधीजी द्वारा शुरू होनेवाले असहयोग आन्दोलन के प्रति लोकमान्य की नीति किस प्रकार की होगी, ऐसा लोग पूछने लगे। गांधीजी से उन्होंने कहा था, "मुझे आपका कार्यक्रम बिल्कुल पसंद है, किन्तु शंका यह है कि असहयोग के लिए जो त्याग और बलिदान आवश्यक है, वह करने के लिए लोग तैयार होंगे या नहीं? मैं ऐसा कुछ नहीं करूंगा कि जिससे इस आन्दोलन की प्रगति में बाधा पड़े। मैं आपकी पूरी सफलता चाहता हूं। अगर लोगों को आप अपने पक्ष में खींच सकेंगे तो मेरा उसके बारे में पूरा अनुमोदन होगा।"

खिलाफत के बारे में उन्होंने कहा, "इस विषय में मुसलमानों को ही पूरी तरह से सोच-समझकर निर्णय करना है। हम हिन्दुओं का काम उनके निर्णय का अनुमोदन करना है।"

: ४५ :

साहित्य-सेवा

'मराठा' व 'केसरी' के संपादक के नाते लोकमान्य ने अनेक विषयों पर बहुत से लेख लिखे, किन्तु इन लेखों के अतिरिक्त उन्होंने अपने स्वाध्याय के परिणाम तीन प्रमुख ग्रन्थों में प्रस्तुत किये—दो अंग्रेजी में और एक मराठी में। ये तीन ग्रन्थ हैं : १. ओरायन (मृगशीर्ष), २. आर्क्टिक होम इन दी वेदाज़ (आर्यों का मूल निवास-स्थान); ३. श्रीमद्भगवद्गीता-रहस्य अथवा कर्मयोग-शास्त्र।

लोकमान्य तिलक अपने बाल्यकाल से ही भगवद्गीता का नियमित पाठ करते आये थे। गीता के दसवें अध्याय 'विभूति-योग' में एक उक्ति 'मासानां मार्गशीर्षोऽहम्' है। उसका मनन करते-करते उनके मनमें यह कल्पना उदय हुई कि किसी जमाने में मार्गशीर्ष महीने से वर्षारंभ होना चाहिए। इस आधार पर उन्होंने सन् १८९२ में लंदन में हुई प्राच्य-विद्या-विशारदों की अन्तर्राष्ट्रीय परिषद् में पढ़ने के लिए एक निबन्ध भेजा। बाद में उसे उन्होंने 'ओरायन ऑर रिसर्चेज़ इन्टु दी एन्टिक्विटी ऑव दी वेदाज' के नाम से १८९३ में पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया। उक्त निबन्ध में उन्होंने वेदान्तर्गत-ग्रह स्थिति के ज्योतिष-शास्त्र की सहायता से सिद्ध किया है कि वेद का काल कम-से-कम ४००० ई० पू० तो होना ही चाहिए।

'ओरायन' की विद्वानों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की। लोगों की मान्यता थी कि अनुसंधान के क्षेत्र में विदेशियों की ही प्रमुख देन है। इस धारणा में जिन इने-गिने भारतीय विद्वानों के प्रयत्नों ने परिवर्त्तन किया, उनमें तिलक के इस ग्रन्थ की भी गणना होने लगी। इस ग्रन्थ से हमारी संस्कृति की प्राचीनता सिद्ध करने के लिए एक महत्त्वपूर्ण साधन प्राप्त हुआ। अमरीका के हॉपकिन्स विश्वविद्यालय के डॉक्टर ब्लूमफील्ड लिखते हैं, "इस वर्ष के प्रकाशित साहित्य में यह ग्रन्थ बहुत ही क्रान्तिकारी माना जा सकता है। श्री तिलक के इस ग्रन्थ के फलस्वरूप जो नया दृष्टिकोण सामने आया है, उसके अनुसार अब सारा प्राचीन इतिहास नये ढंग

पर तैयार करने की आवश्यकता उत्पन्न हो गई है।"

'ओरायन' के लिखने के समय से ही तिलक का वेदों के बारे में अनुसंधान और मनन जारी था। १८९७ में उन्हें जब राजद्रोह के आरोप पर सजा हुई, तब उन्होंने जेल में इस विषय का अधिक अध्ययन किया और जेल से छूटने पर प्रो० मेक्समुलर आदि पंडितों के साथ इस सम्वन्ध में पत्र-व्यवहार भी किया। मार्च १९०३ में उनकी वेद-सम्बन्धी नई पुस्तक 'आर्कटिक होम इन दी वेदाज़' प्रकाशित हुई। प्राचीन आर्य मूलतः उत्तर ध्रुव के निकट के प्रदेश में रहते थे, बाद में हिम-प्रलय हुआ, इसलिए वे लोग वहां से हटकर यूरोप, ईरान, हिन्दुस्तान आदि देशों में गए, यह इस पुस्तक द्वारा मुख्य रूप से प्रतिपादित किया गया था। इसके अनुसार वेदों के कुछ सूक्तों का अर्थ किस प्रकार ठीक बैठता है आदि बातों का विवेचन भी उन्होंने इस पुस्तक में किया। इस ग्रन्थ के सिद्धान्त को प्रस्थापित करने के लिए तिलक ने भूस्तर-शास्त्र जैसे अनेक विषयों का अध्ययन किया और विभिन्न शास्त्रों की दृष्टि से सुसंगत विचार इस पुस्तक में उपस्थित किये। 'ओरायन' की भांति इस पुस्तक को भी पर्याप्त ख्याति प्राप्त हुई।

बोस्टन विश्वविद्यालय के आचार्य डॉक्टर वॉरन ने इस पुस्तक के विषय में लिखा है, "अपने सिद्धान्त को प्रस्थापित करने के लिए इस पुस्तक के लेखक ने जितने प्रमाण दिये हैं, वे इतने सशक्त और निर्णायक हैं कि ऐसे प्रमाण अबतक किसी भी प्राच्य विद्या-विशारद ने कभी नहीं दिये। उनका खोजा हुआ सिद्धान्त शास्त्रीय पद्धति की कसौटी पर सोलहो आने सही उतरता है। अब यह प्रश्न नहीं रहता कि आर्यों का मूल-स्थान कौनसा है।" यह ग्रन्थ उस समय लिखा गया था, जब ताई महाराज के मामले में तिलक पर फौजदारी अदालत में मुकदमा चल रहा था। इस ग्रन्थ के विषय में प्रख्यात पत्रकार नेविन्सन लिखते हैं, "मेरी दृष्टि में इस ग्रन्थ का विशेष महत्त्व इसलिए है कि जिन दिनों लेखक काफी मुसीबतों में फंसा था, उसकी मान-प्रतिष्ठा और सर्वस्व फौजदारी मुकदमे के दांव पर लगा था, उसने इसे उस समय लिखा था। ऐसे कठिन समय शायद ही कोई धर्मग्रन्थ का विचार करने या उत्तर

ध्रुव की परिस्थिति का खयाल करने की हिम्मत कर सकता है।"

गीता में हिन्दू धर्म का सार आ जाता है। उसका माहात्म्य बतानेवाले ऋषि ने भी कहा है कि वह सब उपनिषदों का सार है। जिन महान् आचार्यों ने देशव्यापी ख्याति प्राप्त की है, उन सबने ही गीता पर भाष्य लिखा है। आधुनिक युग में तिलक, अरविन्द और गांधीजी के भाष्य हमारे सम्मुख हैं। उनसे अपरिमित लोग आज भी प्रेरणा प्राप्त कर रहे हैं।

अपनी पुस्तक 'श्रीमद्भगवद्गीता-रहस्य' (कर्मयोग-शास्त्र) में लोकमान्य तिलक ने कर्मयोग पर जोर देकर यह बताने का प्रयत्न किया कि ज्ञान और भक्ति का समावेश उसीमें हो जाता है। इस प्रकार उन्होंने राष्ट्र को प्रयत्नवाद की प्रेरणा दी। साधक को तो उन्होंने कर्मयोग का उपदेश दिया ही, पर इसके आगे जाकर उन्होंने सिद्ध या मुक्त पुरुषों को भी कर्म करने की प्रेरणा दी।

हालांकि गांधीजी ने कर्मयोग का सिद्धान्त स्वीकार किया था, तथापि इसकी बुनियाद उन्होंने अनासक्ति को बनाया और अनासक्ति योग—वस्तुतः अनासक्तियुक्त कर्मयोग—में ज्ञान और व्यक्ति को गूँथ दिया।

श्रीअरविन्द ने समर्पणयोग में ज्ञान, भक्ति और कर्म का समावेश करके उसे पूर्णयोग का नाम दिया।

इस प्रकार इन तीनों आचार्यों ने हमारे समक्ष गीता-तत्त्व का निरूपण किया। विदेशी राज्यसत्ता और पश्चिमी संस्कृति के नशे में चूर राष्ट्र के उत्थान के लिए प्रेरणा देने में गीता की देन बेजोड़ रही है।

'गीता रहस्य' की प्रस्तावना में लोकमान्य ने लिखा है, "श्रीभगवद्गीता से मेरा परिचय हुए आज लगभग तैंतालीस वर्ष हो रहे हैं। सन् १८७२ में पिताजी की अन्तिम बीमारी के समय गीता की 'भाषा-निवृत्ति' नामक मराठी टीका उनके सामने पढ़ने का काम मेरे हाथों में आया था। बचपन में पड़े संस्कार टिकाऊ होने से भगवद्गीता के प्रति उस समय जो रस पैदा हुआ, वह आगे भी बना रहा। बाद में गीता की कई टीकाएं और भाष्य पढ़ने में आये, किन्तु उनमें से किसी से भी संतोष नहीं हुआ।

"यह शंका मन में उठी और उत्तरोत्तर जोर पकड़ती गई कि "अपने बंधुओं के साथ युद्ध करना महापाप है, इस विचार से खिन्न हुए अर्जुन को वही युद्ध लड़ने के लिए प्रवृत्त करने के उद्देश्य से कही गई गीता में ब्रह्मज्ञान या भक्ति के द्वारा मोक्ष कैसे प्राप्त किया जाय, अर्थात् केवल मोक्षमार्ग के विवेचन का क्या प्रयोजन है, किसी भी टीका में इसका समाधानकारक स्पष्टीकरण देखने में नहीं आया। इसलिए तमाम टीकाओं और भाष्यों को एक ओर रखकर मूल गीता के ही मैंने स्वतन्त्र रूप से अनेक पारायण किये। टीकाकारों के बन्धन से मुक्त होकर मुझे यह ज्ञान हुआ कि मूल गीता निवृत्ति पर नहीं, बल्कि प्रवृत्ति पर, यानी कर्मयोग पर, आधारित है। महाभारत, वेदान्त-सूत्र, उपनिषद् आदि ग्रंथों के अध्ययन के परिणामस्वरूप यही मत पुष्ट हुआ।

"यह संसार मोक्ष की दृष्टि से कैसे चलाना चाहिए और मनुष्य-मात्र का दुनिया में आने के बाद सच्चा धर्म या कर्त्तव्य क्या है, उसका तात्त्विक दृष्टि से उपदेश देने के लिए ही गीता की रचना हुई है। इसलिए युवावस्था में ही गृहस्थाश्रम का यह प्राचीन शास्त्र जितनी जल्दी हो सके उतनी जल्दी हरेक व्यक्ति को समझ लेना चाहिए।"

'गीता-रहस्य' में पाश्चात्य तत्त्व-ज्ञान का जैसा विवेचन देखने को मिलता है, वैसा मराठी भाषा के और किसी ग्रथ में नहीं मिलता। मराठी साहित्य का वह एक अलंकार-सा बन गया है। यह ग्रंथ प्रकाशित होते ही इतना लोकप्रिय हो गया कि ६००० प्रतियों का पहला संस्करण एक व्यक्ति को एक ही प्रति बेचने का नियम होते हुए भी लगभग एक सप्ताह में ही निकल गया।

: ४६ :

अंतिम-यात्रा

लोकमान्य का स्वास्थ्य अब धीरे-धीरे खराब होता जा रहा था। स्वराज्य संघ की आखिरी सभा में उन्होंने कहा था, "मेरी सब शक्तियां अब क्षीण होती जा रही हैं। किसी नये काम की जिम्मेदारी सिर पर

लेना या नहीं, इसका निर्णय मुझ पर ही छोड़ दीजिये।" थोड़े ही दिनों में उन्हें इसका प्रत्यक्ष अनुभव हुआ। जुलाई में उन्हें बार-बार बुखार आने लगा। फिर भी ताई महाराज के मुकदमे का आखिरी काम पूरा करने के लिए वह १२ जुलाई को बंबई गए। वहां भी बुखार चलता रहा। २१ जुलाई को मुकदमे का फैसला हो गया, जिसमें उन्हें पूरी सफलता मिली। २३ तारीख को उनके ६४वें जन्म-दिवस पर सारे देश से आये हुए बधाई के पत्रों व तारों का ढेर लग गया। २६ को डाक्टरों ने जांच करके बताया कि उन्हें निमोनिया हो गया है। २७ को उनकी हालत चिन्ताजनक हो गई, किन्तु मस्तिष्क पर कोई असर नहीं हुआ। पूना से कुछ लड़कियां आई थीं, उनसे विनोद करते हुए उन्होंने कहा, "तुमको अब भी पीहर में रहना ही ज्यादा पसंद मालूम होता है !"

दोपहर के बाद बुखार बढ़ने लगा और हृदय की कमज़ोरी नजर आने लगे। बाद में बेहोशी छा गई और मुंह से कुछ-के-कुछ शब्द निकलने लगे। बीमारी बढ़ती गई। रविवार की मध्य-रात्रि को वह सदा के लिए सो गए। अपने अन्तःकरण में आजन्म संजोकर रखी हुई और स्वार्थ की आहुतियां देकर सम्बर्द्धित की हुई क्रान्ति की 'ज्योति' उनके देह-बंधन से मुक्त होकर सारे भरत-खंड में व्याप्त हो गई।

मृत्यु के पहले उन्होंने ये अंतिम शब्द कहे, "स्वराज्य प्राप्त किये बिना भारत की कभी भी बरकत नहीं होगी। केवल हमारे अस्तित्व को टिकाये रखने के लिए भी यह ज़रूरी है।"

लोकमान्य का जीवन जैसा संस्मरणीय था, वैसा ही उनकी अन्त्येष्ठि के समय का दृश्य था। बंबई के सारे इतिहास में इस प्रकार के व्यापक शोक का कोई प्रसंग पहले उपस्थित नहीं हुआ था। प्रातः चार बजे से नर-नारियों का अजस्र प्रवाह उनके अंतिम दर्शन करने के लिए उनके निवास-स्थान 'सरदार गृह' के निकट उमड़ पड़ा। अंतिम-यात्रा में सात-आठ लाख व्यक्ति शामिल हुए थे।

चूंकि तिलक ब्राह्मण थे, इसलिए उनके रिश्तेदारों ने आग्रह किया कि ब्राह्मणों के द्वारा ही उनकी अरथी उठाई जानी चाहिए। पर गांधीजी ने "सार्वजनिक सेवक की कोई जात नहीं होती" कहकर अरथी के नीचे



अंतिम दर्शन

कंधा लगा दिया। उनके साथ मौलाना शौकतअली, डा० किचलू आदि भी शामिल हुए।

वह अंतिम यात्रा! सारी बंबई नगरी उमड़ पड़ी थी। ऐसे महान् नेता के लिए सामान्य श्मशान-भूमि बहुत छोटी थी। इसलिए चौपाटी के विस्तृत मैदान में उनका दाह-संस्कार किया गया। वह घटना अपूर्व थी। लोग असहाय-से होकर पूछने लगे कि अब भारतका मार्ग-दर्शन कौन करेगा? इसका उत्तर कौन देता? स्वयं गांधीजी के मुँह से ये उद्गार निकल पड़े, "मेरा सबसे बड़ा आधार चला गया।"

लोकमान्य की मृत्यु के समाचार से सारा देश शोक-सागर में डूब गया। जगह-जगह पर उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित की गई। स्मारक बनाने की बात उठी। गांधीजी ने कहा, "किसी भी दिवंगत व्यक्ति की स्मृति का सम्मान करने का सच्चा मार्ग उसके जीवन का अधूरा कार्य पूरा कर देना है। लोकमान्य की स्मृति का सच्चा सम्मान अगर करना हो तो हमें स्वराज्य स्थापित करना चाहिए।" उसी स्वराज्य के कार्य के लिए गांधीजी की प्रेरणा से कांग्रेस के नागपुर-अधिवेशन में 'अ० भा० तिलक स्वराज्य-फंड' के नाम से एक करोड़ की निधि इकट्ठी करने का प्रस्ताव पास किया गया। तीन महीने में ही यह राशि इकट्ठी हो गई। अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए गांधीजी ने 'हिन्दी नवजीवन' में लिखा:

"लोकमान्य तो एक ही थे। लोगों ने तिलक महाराज को जो पदवी, जो उच्च स्थान दिया था, वह राजाओं के दिये खिताबों से लाख गुना कीमती था। देश ने आज यह बात सिद्ध कर दिखाई है। यह कहें तो अत्युक्ति न होगी कि सारी बंबई लोकमान्य को पहुँचाने के लिए उलट पड़ी थी। उनके आखिरी दिनों में जो दृश्य मैंने अपनी आँखों से देखा, वह कभी भुलाया नहीं जा सकता। लोगों के उस अगाध प्रेम का वर्णन करना असंभव है।

"फ्रांस में कहावत है—'सम्राट् मर गए, सम्राट् चिरंजीव हों!' यह विचार इंगलैण्ड आदि सारे देशों में भी प्रचलित है और जब राजा की मृत्यु होती है तब यही कहावत कही जाती है। उसका भावार्थ यह है कि राजा तो मरता ही नहीं। राजतंत्र एक मिनट भी बंद नहीं रहता। उसी प्रकार

तिलक महाराज भी मर नहीं सकते, न मरे ही। बंबई की जनता ने यह दिखला दिया कि वे जीते हैं और बहुत समय तक जीयेंगे। उनके सगे-सम्बन्धियों को भले ही दुःख हुआ हो, उन्होंने भले ही आँखोंसे मोती टपकाये हों, परन्तु दूसरे लोग तो उत्सव मनाने के लिए आये थे। बाजे और भजन लोगों को चेतावनी दे रहे थे कि लोकमान्य मरे नहीं हैं। 'लोकमान्य तिलक महाराज की जय' ध्वनि से आकाश गूंज उठता था। उस समय लोग इस बात को भूल गए थे कि हम तो तिलक महाराज के देह के दाहकर्म के लिए आये हैं।

"शनिवार की रात को जब मैंने उनके स्वर्गवास की खबर सुनी तब मेरा चित्त व्याकुल हो रहा था, पर जयघोष सुनकर मेरी बेचैनी जाती रही। मेरी भी यही धारणा हुई कि तिलक महाराज जीवित हैं। उनकी क्षणभंगुर देह छूट गई है, पर उनकी अमर आत्मा तो लाखों लोगों के हृदय में विराजमान है।

"इस जमाने में किसी भी लोकनायक को ऐसी मृत्यु का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था। दादाभाई गए, फिरोजशाह गए, गोखले भी चले गए। सबके साथ हजारों लोग श्मशान तक गए थे; पर तिलक महाराज ने तो हद कर दी। उनके पीछे तो सारी दुनिया गई। रविवार को बंबई बावली हो गई थी।

"यह कैसा चमत्कार है! संसार में चमत्कार नाम की कोई वस्तु ही नहीं। अथवा यों कहें कि जगत स्वयं ही एक चमत्कृति है। 'बिना कारण के कोई काम नहीं होता', इस सिद्धान्त में कोई अपवाद नहीं हो सकता। लोकमान्य का हिन्दुस्तान पर असीम प्रेम था। इसी कारण लोक-प्रेम की भी मर्यादा नहीं रह गई थी। स्वराज्य के मन्त्र का जितना जप उन्होंने किया है उतना किसी दूसरे ने नहीं किया। जिस समय दूसरे लोग यह मानते थे कि हां, जब भारत स्वराज्य के योग्य होगा, उस समय लोकमान्य सच्चे दिल से मानते थे कि भारत आज ही तैयार है। लोकमान्य की इस धारणा ने लोगों के मन को हर लिया था। ऐसा मानकर वह बैठे नहीं रहे; बल्कि जिन्दगी भर उसके अनुसार काम किया। उससे जनता में नवीन चैतन्य, नया जोश पैदा हुआ। उन्होंने स्वराज्य प्राप्त करने

की अपनी अधीरता का स्वाद लोगों को चखाया और ज्यों-ज्यों जनता को उसका स्वाद मालूम होने लगा त्यों-त्यों वह उनकी तरफ खिंचती गई।

"उन पर अनेक तरह की आफतें आईं, तरह-तरह के कष्ट सहने पड़े, तो भी उन्होंने उस मंत्र का अनुष्ठान नहीं छोड़ा। इस तरह वह कठिन परीक्षाओं में भी पास हुए। इससे जनता ने उन्हें अपने हृदयका सम्राट् बनाया, उनका वचन उसके लिए कानून की तरह मान्य हो गया।

"देह के नष्ट हो जाने से ऐसा महान् जीवन नष्ट नहीं होता, बल्कि देहपात के बाद से तो वह शुरू होता है।

"जिसे हम पूजनीय मानते हैं उसकी सच्ची पूजा तो उनके सद्गुणों का अनुकरण करना ही है। लोकमान्य अत्यन्त सादगी के साथ रहते थे। उनके स्मरण के लिए हमें भी अपना जीवन सादा बनाना चाहिए। हमें उस सीमा तक वस्तुओं का त्याग करना चाहिए, जिस तक के लिए हमारा मन गवाही देता हो। अपने निश्चय कार्य को करने से कभी पीछे नहीं हटना चाहिए। वह विचारशील थे। हमें भी विचार करके ही बोलना और काम करना चाहिए। वह विद्वान् थे, अपनी मातृभाषा और संस्कृति पर उनका खूब प्रभुत्व था। हमें भी उनकी तरह विद्वान होने का निश्चय करना चाहिए। व्यवहार में विदेशी भाषा का त्याग करके मातृभाषा का काफी ज्ञान प्राप्त करना और उसीके द्वारा अपने विचारों को प्रकट करने का अभ्यास करना चाहिए।...वह स्वदेशी के प्रेमी थे। हमें भी स्वदेशी का अर्थ समझकर उसका व्यवहार करना चाहिए। उनके हृदय में अपने देश के प्रति अथाह प्रेम था। हम भी अपने हृदय में ऐसा प्रेम उदय करें और दिन-प्रति-दिन देश-सेवा में अधिकाधिक तत्पर हों। इसी रीति से उनकी पूजा हो सकती है। जिनसे इतना न हो सके, वे उनकी यादगार के लिए जितना हो सके धन दें और वह स्वराज्य के कार्य में खर्च किया जाय।

"लोकमान्य वर्त्तमान राष्ट्र-मंडल के कट्टर शत्रु थे। पर इससे यह न समझना चाहिए कि वह अंग्रेजों से द्वेष करते थे। जो लोग ऐसा समझते हैं वे भूल करते हैं। उन्हींके श्रीमुख से मैंने कई बार अंग्रेजों की प्रशंसा सुनी है। वह अंग्रेजी राज्य के सम्बन्ध को ही अधिक नहीं मानते

थे। वह तो सिर्फ अपने को अंग्रेजों के बराबर मनवाना चाहते थे। किसी का भी गुलाम बनकर रहना उन्हें पसन्द नहीं था।

"ऐसे प्रौढ़ देशभक्त के स्वर्गवास का उत्सव हम मना रहे हैं। ऐसे पुरुष की देह चाहे रहे या न रहे, पर देश की सेवा तो किया ही करती है, देश को आगे बढ़ाया ही करती है। जिसने अपने कार्य को रूपरेखा बना रखा हो, जिसने उसके अनुसार ४५ वर्षों तक काम किया हो, जिसने अपनी देह को देश-सेवा के ही अर्पण कर दिया हो, उसकी देह का नाश भले ही हो जाय, उसकी स्मृति कभी नष्ट नहीं होती, उसकी मृत्यु कभी नहीं होती। अतएव लोकमान्य तिलक मरकर भी हमें जीवन का मंत्र सिखा गए हैं।"

एक अन्य श्रद्धांजलि में गांधीजी ने कहा है, "लोकमान्य जनता के आराध्य देव थे, प्रतिमा थे। उनके वचन हजारों आदमियों के लिए वेद-वाक्य थे। पुरुषों में पुरुष-सिंह संसार से उठ गया। देशभक्ति उनका एक धर्म होगई थी। जितनी स्थिरता और दृढ़ता के साथ उन्होंने राज्य के लिए काम किया, उतना और किसीने नहीं किया। उन्होंने निस्सन्देह स्वराज्य की अवधि कई वर्ष कम कर दी।

"भारत की भावी सन्तति के हृदय में यही भाव बना रहेगा कि लोकमान्य नवीन भारत के निर्माता थे। वे उनका यह कहकर स्मरण करेंगे कि एक पुरुष था, जो हमारे लिए ही जन्मा और हमारे लिए ही मरा।"

परिशिष्ट

भूल-सुधार

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६	अन्तिम	बाक	बाळ
७७	ऊपर से आठवीं (शीर्षक)	कांग्रस	कांग्रेस
११३	ऊपर से तीसरी	कौन्सिसरों	कौन्सिलरों
११४	नीचे से छठी	बाळा	बाळ
१४६	ऊपर से पांचवीं	मिलक	तिलक
१६८	नीचे से तीसरी	३१ अगस्त	३१ जुलाई

नोट—प्रेस की असावधानी के कारण १६ वें अध्याय के आगे अध्यायों का क्रम गलत होगया है। पाठक सुधार करलें।

'मंडल' के कुछ प्रकाशन एक दृष्टि में

आत्मकथा	(गांधीजी)	५)
प्रार्थना-प्रवचन २ भाग	,,	५॥)
गीता-माता	,,	४)
पंद्रह अगस्त के बाद		१॥), २)
द० अफ्रीका का सत्याग्रह		३॥)
मेरे समकालीन	,,	५)
आत्म-संयम	,,	३)
गीता-बोध	,,	॥)
अनासक्तियोग	,,	१॥)
ग्राम-सेवा	,,	।=)
मंगल-प्रभात	,,	।=)
सर्वोदय	,,	।=)
नीति-धर्म	,,	।=)
आश्रमवासियों से	,,	।=)
हमारी मांग	,,	१)
सत्यवीर की कथा	,,	।)
संक्षिप्त आत्मकथा	,,	१) १॥)
हिन्द-स्वराज्य	,,	।॥)
अनीति की राह पर	,,	१)
बापू की सीख	,,	॥)
गांधी-शिक्षा (तीन भाग)		१=)
आज का विचार (दो भाग)		।॥)
ब्रह्मचर्य (दो भाग)	,,	१।॥)
गांधीजी ने कहा था ३ भाग		।॥)
शान्ति यात्रा	(विनोबा)	१॥)
विनोबा के विचार : २ भाग		३)
गीता-प्रवचन	,,	१), १॥)
जीवन और शिक्षण	,,	२)
स्थितप्रज्ञ-दर्शन	,,	१)
ईशावास्यवृत्ति	,,	।॥)
ईशावास्योपनिषद्	,,	=)
सर्वोदय-विचार	,,	१=)
स्वराज्य-शास्त्र	,,	॥)
गांधीजी को श्रद्धांजलि	,,	।=)
भूदान-यज्ञ	(विनोबा)	।)
राजघाट की संनिधि में	,,	॥)
विचार-पोथी	,,	१)
सर्वोदय का घोषणा-पत्र	,,	।)
जमाने की मांग	,,	=)
उपनिषदों का अध्ययन	,,	१)
मेरी कहानी	(नेहरू)	८)
,, संक्षिप्त	,,	२॥)
हिन्दुस्तान की समस्याएँ	,,	२)
लड़खड़ाती दुनिया	,,	२)
राष्ट्रपिता	,,	२)
राजनीति से दूर	,,	२)
हमारी समस्याएं	,,	।॥)
विश्व-इतिहास की झलक		२१)
सं० हिन्दुस्तान की कहानी		५)
नया भारत	,,	।)
आजादी के आठ साल	,,	।)
गांधीजी की देन	(रा० प्र०)	१॥)
गांधी-मार्ग	,,	=)
महाभारत-कथा	(राजाजी)	५)
कुब्जा-सुन्दरी	,,	३)
शिशु-पालन	,,	॥)
मैं भूल नहीं सकता	(काटजू)	२॥)
कारावास-कहानी	(सु. नै.)	१०)
गांधी की कहानी	(लु० फि०)	४)
भारत-विभाजन की कहानी		४)
बापू के चरणों में		२॥)
इंग्लैंड में गांधीजी		२)
बा, बापू और भाई		॥)
गांधी-विचार-दोहन		१॥)
सत्याग्रह-मीमांसा		३॥)
बुद्ध-वाणी	(वियोगी हरि)	१)
सन्त-सुधासार	,,	११)
श्रद्धाकण	,,	१)
अयोध्याकाण्ड	,,	१)
भागवत-धर्म	(ह० उ०)	५॥)

[illegible]

स्वतन्त्रता की ओर ,, ४)
बापू के आश्रम में ,, १)
मानवता के झरने (माव०) १।।)
बापू (घ० बिड़ला) २)
रूप और स्वरूप ,, ।।=)
डायरी के पन्ने ,, १)
ध्रुवोपाख्यान ,, ।)
स्त्री और पुरुष (टालस्टाय) १)
मेरी मुक्ति की कहानी,, १।।)
प्रेम में भगवान ,, २)
जीवन-साधना ,, १।)
कलवार की करतूत ,, ।)
हमारे जमाने की गुलामी,, ।।।)
बुराई कैसे मिटे ? ,, १)
बालकों का विवेक ,, ।।)
हम करें क्या ? ,, ३।।)
धर्म और सदाचार ,, १।)
अंधेरे में उजाला ,, १।।)
ईसा की सिखावन ,, १)
कल्पवृक्ष (वा० अग्रवाल) २)
लोक-जीवन (कालेलकर) ३।।)
साहित्य और जीवन २)
कब्ज (म० प्र० पोद्दार) १)
हिमालय की गोद में,, २)
कहावतों की कहानियाँ,, २)
राजनीति-प्रवेशिका १)
जीवन संदेश (ख० जिब्रान) १।)
अशोक के फूल ३)
जीवन-प्रभात ५)
कांग्रेस का इतिहास २ भाग २०)
पंचदशी २)
सप्तदशी ।।)
रीढ़ की हड्डी १।।)
अमिट रेखाएँ ३)
नवप्रभात (नाटक) १)
कृषि-ज्ञान-कोष ४)

धरती और आकाश ,, १।)
मेरी जीवन-यात्रा २)
एक आदर्श महिला १)
राष्ट्रीय-गीत ।)
तामिल-वेद (तिरुवल्लवर) १।।)
थेरी-गाथाएँ १।।)
बुद्ध और बौद्ध साधक १।।)
जातक-कथा (आनंद कौ०) २।।)
हमारे गांव की कहानी १।।)
खादी द्वारा ग्राम-विकास ।।।)
साग-भाजी की खेती ३)
ग्राम-सुधार १।)
पशुओं का इलाज ।।)
चारादाना ।)
रामतीर्थ-संदेश (३ भाग) १=)
रोटी का सवाल (क्रोपा०) ३)
नवयुवकों से दो बातें ,, ।=)
पुरुषार्थ (डा० भगवान्दास) ६)
काश्मीर पर हमला २)
शिष्टाचार ।।)
तट के बन्धन २)
भारतीय संस्कृति ३।।)
आधुनिक भारत ५)
फलों की खेती २।।)
मैं तन्दुरुस्त हूँ या बीमार ।।)
नवजागरण का इतिहास ३)
गांधीजी की छत्रछाया में १।।) २।।)
भागवत-कथा ३।।)
जय अमरनाथ १।।)
हमारी लोककथाएँ १।।)
पुण्य की जड़ हरी (ब्रज-लोक कथाएं) १।।)
संस्कृत-साहित्य-सौरभ (२६ पुस्तकें) प्रत्येक ।=)
समाज-विकास-माला (५६ पुस्तकें) प्रत्येक ।=)

'मंडल' का जीवनी तथा संस्मरण साहित्य

१. आत्म-कथा
— महात्मा गांधी
२. मेरी कहानी
— जवाहरलाल नेहरू
३. आत्म-कथा (प्रेस में)
— राजेन्द्रप्रसाद
४. जीवन-प्रभात
— प्रभुदास गांधी
५. मेरी मुक्ति की कहानी
— टाल्स्टाय
६. श्रेयार्थी जमनालालजी
— हरिभाऊ उपाध्याय
७. मेरी जीवन-यात्रा
— जानकीदेवी बजाज
८. एक आदर्श महिला
— विनायक तिवारी
९. अमिट रेखाएं
— सत्यवती मल्लिक
१०. मैं भूल नहीं सकता
— कैलासनाथ काटजू
११. मानवता के झरने
— ग.वा. मावलंकर

सत्साहित्य
सस्ता साहित्य मण्डल

अढ़ाई रुपया